पूर्व और पाश्चात्य रहस्यवाद का तुलनात्मक अध्ययन

(A Comparative Study of Mysticism Eastern & Western)

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की

डी. फिल्. उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध -प्रबन्ध

प्रस्तुतकर्त्री

रुचि टण्डन

निर्देशिका

डा० गौरी चट्टोपाध्याय

रीडर दर्शन विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

इलाहाबाद

दर्शन विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

2002

विषय सूची

*****

प्राक्कथन

कोई भी कार्य आरम्भ करने से लेकर समाप्त करने तक मनुष्य के मार्ग में अनेक बाधायें, संघर्ष एवं विषम परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं। कुछ मनुष्य ऐसे होते हैं जो कार्य को आरम्भ करने के पूर्व ही आने वाली बाधाओं से भयभीत होकर कार्य नहीं करते। ऐसे मनुष्यों को निम्न श्रेणी के मनुष्य की कोटि में रखा जाता है। कुछ मनुष्य ऐसे भी होते हैं जो कार्य तो आरम्भ कर देते हैं किन्तु जब विषम परिस्थितियाँ आती हैं तो उसे बीच में ही छोड़ देते हैं। ऐसे मनुष्यों को मध्यम श्रेणी की कोटि में रखा जाता है। इसके अतिरिक्त कुछ मनुष्य ऐसे भी होते हैं जो कार्य को आरम्भ करने से लेकर उसे समाप्त करने तक प्रयासरत रहते हैं। चाहे कितनी ही बाधायें उनके मार्ग में अवरोधक क्यों न बने, ऐसे मनुष्यों को उत्तम श्रेणी की कोटि में रखा जाता है। मेरी कोटि मध्यम श्रेणी के मनुष्य वर्ग में थी। धर्म दर्शन मेरा अत्यन्त प्रिय विषय रहा है और मैं इसी से संबंधित विषय पर शोध करना चाहती थी। एम०ए० की परीक्षा अच्छे अंकों के साथ प्रथम श्रेणी और द्वितीय पोजीशन में उत्तीर्ण करने के पश्चात् मैं अपनी इस इच्छा की पूर्ति हेतु किसी कारणवश विलम्ब हो गयी, किन्तु मन में जिज्ञासा तो थी ही और ईश्वर की असीम अनुकम्पा से तत्कालीन विभागाध्यक्ष डा० डी०एन० द्विवेदी के प्रयास से मुझे सुयोग्य निर्देशिका डा० गौरी चट्टोपाध्याय के नेतृत्व में सौभाग्यवश अपना शोध प्रबंध पूरा करने का अवसर मिला। इस शोध प्रबंध को पूरा करने हेतु मैंने प्रारम्भ में तो बड़े उत्साह के साथ कार्य का आरम्भ किया किन्तु बीच में व्यवधानवश कार्य में उतनी तेजी नहीं रही, जितनी कि आरम्भ में थी। गौरी मैडम के रूप में एक ऐसा गुरु मिला जिसने गुरु के साथ-साथ एक माँ कीं भूमिका और एक दोस्त की भूमिका बखूबी निभाई और मुझे मध्यम कोटि के मनुष्य की श्रेणी से उठाकर उत्तम कोटि के मनुष्य की श्रेणी में ला खड़ा किया अर्थात् अपने लक्ष्य

की पूर्ति हेतु बाधाओं पर विजय प्राप्त करने हेतु मुझे प्रेरित किया। ऐसी ममतामयी, करुणामयी गुरु के चरण कमलों की सर्वप्रथम मैं कोटि-कोटि वन्दना करती हूँ, जिनके स्नेह और मार्गदर्शन के कारण मेरा यह शोध-प्रबंध पूर्ण हुआ।

मैं दर्शनशास्त्र विभाग के समस्त अध्यापिकाओं एवं अध्यापकों की भी ऋणी हूँ, जिन्होंने पग-पग पर मुझे अपना सहयोग प्रदान किया। स्व० संगमलाल पाण्डेय, स्व०सी० एल० त्रिपाठी को सर्वप्रथम अपनी श्रद्धांजलि देते हुए उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करती हूँ जिनका सहयोग मुझे हमेशा प्राप्त हुआ। डा० एस०के० सेठ, डा० आर०एल० सिंह, डा० डी०एन० द्विवेदी, डा० आर०एस० भटनागर एवं डा० श्रीकान्त मिश्रा के प्रति भी मैं अपनी कृतज्ञता प्रकट करती हूँ। डा० मृदुला श्रीवास्तव, डा० आशा लाल, डा० नरेन्द्र सिंह, डा० जटाशंकर त्रिपाठी, डा० एच०एस० उपाध्याय, आदि सभी का सहयोग मुझे प्राप्त हुआ। इसके अतिरिक्त मेरे समस्त सहपाठी, जिनमें असीम मुखर्जी, अनिल सिंह भरदौरिया, विश्वामित्र पाण्डेय का मैं विशेष रूप से शुक्रिया अदा करती हूँ।

इस शोध प्रबंध को पूर्ण करने हेतु मेरे पति श्री नीरज टण्डन का मुझे पूरा सहयोग प्राप्त हुआ। यदि वह मुझे सहयोग न देते तो शायद मैं अपने शोध प्रबंध को पूरा न कर पाती। मेरी माँ श्रीमती प्रतिभा टण्डन ने मेरा हौसला पग-पग पर बुलंद किया और मुझे मंजिल तक पहुँचाने में उनका बहुत बड़ा सहयोग है। मेरी दीदी श्रीमती रूमी कपूर की मैं विशेष रूप से आभारी हूँ, जिन्होंने स्वयं बहुत व्यस्तता के बावजूद मेरी बेटी मेघना टण्डन (चुनमुन) की देखभाल की पूरी जिम्मेदारी उठाई और मेरा भी हर तरह से ख्याल रखा। इसके अतिरिक्त अनूप भाई जो मेरे जीजा जी हैं, उन्होंने भी मेरा हौसला बुलन्द किया। मेरी दूसरी दीदी मिन्नी सिंघल और जीजाजी डा० अमरीश सिंघल की भी मैं आभारी हूँ।

मेरी सास श्रीमती सुधा टण्डन, ससुर श्री राजेन्द्र प्रसाद टण्डन, मेरे जेठ श्री

प्रभात टण्डन, श्री पंकज टण्डन, जेठानी श्रीमती अलका टण्डन, श्रीमती निशि टण्डन आदि परिवार के समस्त लोगों का मुझे सहयोग प्राप्त हुआ। मेरे भान्जे रोहित कपूर, रिषभ कपूर, भान्जी मानसी सिंघल (रुनझुन), भतीजियाँ राधिका टण्डन, सुरभि टण्डन, सभी का भरपूर प्यार मुझे मिला। मेरी बिटिया चुनमुन ने मुझे सर्वाधिक सहयोग प्रदान किया। ढाई साल की छोटी सी बच्ची होने के बावजूद उसने मुझे तंग नहीं किया और पढ़ाई में मुझे पूरा सहयोग दिया जिसके कारण मेरा शोध-प्रबंध पूरा हो सका।

मेरे देवर मनीष मेल्होत्रा, आशीष मेल्होत्रा, जिनका दुर्गा पुस्तक भण्डार (प्रा०) लि०, इलाहाबाद नाम से मशहूर प्रेस है। इन्होंने मुझे कम्प्यूटर कम्पोजिंग, प्रिंटिंग आदि सभी सुविधायें प्रदान किया। मैं इनका विशेष शुक्रिया अदा करती हूँ। इसके अतिरिक्त मेरी ननदें शक्ति, चारु, गुड़िया दीदी, ऊषा भाभी, दीपिका, संकल्प, मेरे दादा जी संगमलाल, बद्रीप्रसाद भईया, कौशल भाई आदि सभी ने मेरे कार्य को अंजाम तक पहुँचाने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। मैं बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय की भी विशेष रूप से शुक्रगुजार हूँ जहाँ पर मुझे पर्याप्त रूप से शोध-प्रबन्ध से संबंधित पठन सामग्री प्राप्त हुई।

मैं कम्प्यूटर कम्पोंजिग श्रीमती छाया श्रीवास्तव, इलाहाबाद की विशेष रूप से आभारी हूँ जिन्होंने पूरी तन्मयता के साथ बिना किसी अशुद्धि के मेरा शोध-प्रबन्ध का कार्य पूरा किया।

मेरे स्वर्गीय पिता सूरज नारायण टण्डन का आशीर्वाद सदैव मेरे साथ रहा। उनकी इच्छा थी कि मैं डी०फिल करूँ और आज उनके आशीर्वाद से मेरा यह कार्य पूर्ण हुआ।

....

रुचि टण्डन
श्रीमती रुचि टण्डन

प्रथम अध्याय

प्रथम अध्याय

भूमिका

मानव अत्यन्त जिज्ञासु प्राणी है। वह अनादिकाल से ही बड़ी जिज्ञासा भरी दृष्टि से संसार के विपुल प्राकृतिक वैभव को देखता आया है और इस वैभव के कर्त्ता के विषय में जानने की उसकी अतृप्त लालसा रही है। इस रहस्यमयी सत्ता के साथ जब उसकी आत्मा अपरोक्षानुभूति प्राप्त कर लेती है तब उसे एक विचित्र प्रकार की भाव-विह्वल अनुभूति होती है। इस अनुभूति को जब वह शब्दों के माध्यम से अभिव्यक्त करता है तब यही अभिव्यक्ति 'रहस्यवाद' की संज्ञा से अभिहित की जाती है। रहस्यवादी की भाषा कुछ अटपटी सी होती है, क्योंकि मानव अपनी अनुभूति को यथावत् प्रकट करने में अपने को असमर्थ पाता है। इस असमर्थता के कारण उसके हृदय में एक प्रकार की व्याकुलता का अनुभव होता है और इस व्याकुलता की दशा में उसके शब्द कुछ विचित्र से हो जाते हैं। वह विचित्रता की स्थिति कुछ इस प्रकार से अबूझ-सी प्रतीत होने लगती है कि उसे प्राय: शब्दों का पर्यावरण पहनाया जा सकना संभव नहीं हो पाता है। स्पष्ट है कि रहस्यवाद को शब्दों के पाश में बाँधना असंभव है।

रहस्यवाद बहुत ही अस्पष्ट तथा विवादास्पद विषय है, अत: इसकी कोई सर्वसम्मत एवं निश्चित परिभाषा देना अथवा इसके सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ भी कहना अत्यन्त कठिन है। लगभग सभी रहस्यवादी यह मानते हैं कि रहस्यवाद मनुष्य के

सामान्य अनुभव से पूर्णतः भिन्न और उसकी परिधि से परे है। ऐसी स्थिति में सामान्य व्यक्ति के लिए ही नहीं अपितु विचारक अथवा दार्शनिक के लिए भी रहस्यवाद का अबोधगम्य बना रहना नितान्त स्वाभाविक तथा अनिवार्य है। रहस्यवाद की इसी अबोधगम्यता के कारण इस विषय की विवेचना में अस्पष्टता प्रायः बनी रहती है जिसका पूर्णरूप से निराकरण करना संभव नहीं है। जो विषय हमारी अनुभव की परिधि से बाहर है उसके सम्बन्ध में हम निश्चयपूर्वक कुछ भी कहने का दावा नहीं कर सकते। स्पष्ट है कि रहस्यवाद अवर्णनीय है।

यद्यपि रहस्यवाद को शब्दों के पाश में बाँधना संभव नहीं है तथापि इसके शाब्दिक अर्थ पर दृष्टिपात करने से कुछ अंश तक जानकारी प्राप्त की जा सकती है।

रहस्यवाद दो शब्दों से मिलकर बना है-'रहस्य' तथा 'वाद' । रहस्य शब्द का अर्थ सामान्य रूप से 'एकान्त', 'गुप्त' आदि होता है। 'वाद' का अर्थ 'मत' या दृष्टिकोण के रूप में होता है। स्पष्ट है कि 'रहस्यवाद' शब्द का प्रयोग इस अर्थ में तो किया ही नहीं जा सकता क्योंकि 'एकान्त', 'गुप्त' या 'गोपनीय' में 'वाद' का कोई अर्थ ही नहीं होता।[1]

रहस्य शब्द का प्रयोग आध्यात्मिक ग्रन्थों में एक अन्य अर्थ में भी हुआ है, जिसका तात्पर्य 'तत्व', 'भेद' या 'मर्म', 'गुह्य-ज्ञान' या 'परम-ज्ञान' से है। गीता में इसी अर्थ में रहस्य शब्द का प्रयोग हुआ है। इसलिए रहस्य शब्द का उपयोग तत्व 'सार' या 'गूढ़-तत्व' के ही अर्थ में उपयुक्त है। इसके आगे 'वाद' शब्द जोड़ने पर कोई कठिनाई भी नहीं पड़ती क्योंकि यह स्पष्ट है कि 'गुह्य' विषय की चर्चा को 'सत् या वाद का रूप दिया

---

(1) मिश्र डॉ० हृदय नारायण : धर्म दर्शन परिचय, पृ० सं० - 283,
शेखर प्रकाशन, नवम् संस्करण, 1995 ।

जा सकता है। अत: 'तत्वज्ञान' के अर्थ में ही रहस्यवाद की संज्ञा उपयुक्त है।[1]

रहस्यवाद को अंग्रेजी में 'मिस्टिसिज्म' कहा जाता है। हिन्दी में इसका प्रयोग काव्य रचना शैली के रूप में हुआ है,परन्तु उसका विषय तत्वज्ञान है। मराठी भाषा में 'गूढ़वाद' या 'गूढ़ गुंजन' तथा बंगला में 'मर्मियावाद' भी कहा जाता है।

'मिस्टिसिज्म' शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में यह बतलाया जाता है कि अंग्रेजी शब्द 'मिस्टिक' की उत्पत्ति ग्रीक शब्द 'मिस्टेस' या 'मस्टेस' से हुई है जिसका अर्थ ऐसे दीक्षित व्यक्ति से लिया जाता है जो मृत्यु तथा जीवन के मर्म सम्बन्धी गूढ़ तत्व के ज्ञान को प्राप्त करता है। अत: 'मिस्टिसिज्म' शब्द गुप्त या रहस्यमय ज्ञान को ही प्रकट करता है।[2]

'मिस्टिसिज्म' यूनानी भाषा के 'muno' क्रिया में 'मैं चुप हूँ' अर्थ का द्योतक है। यह 'mum' अर्थात चुप्पी साधना, मौन धारण करना के निकट है। बुद्ध का मौन भी इसी प्रकार का है। शाब्दिक अर्थ में 'रहस्यवादी' वह है जो 'रहस्य' को स्वीकार कर मौन रहता है। उसे जो रहस्यानुभूति प्राप्त है वह अवर्णनीय होती है। यह अवर्णनीयता अनुभवकर्त्ता की अयोग्यता अथवा असमर्थता की अपेक्षा अनुभूति के अनुबंधन के द्योतक हैं। जिस प्रकार यह अनुभूति स्वयं में अनूठी होती है उसी प्रकार इसमें ज्ञाता और ज्ञेय का संबंध भी अनूठा होता है।[3]

धर्म की भाँति रहस्यवाद की भी अनेक परिभाषाएँ की जाती हैं। रहस्यवाद की विभिन्न परिभाषाएँ स्पष्ट रूप से एकांगी भी प्रतीत होती हैं क्योंकि कुछ लोगों ने इसे मनोवैज्ञानिक

---

(1) मिश्र डा० हृदय नारायण : धर्मदर्शन परिचय, पृ० सं० 283 ।

(2) वही ।

(3) शर्मा डॉ० लक्ष्मी निधि : धर्मदर्शन, द्वितीय संस्करण, पृ० सं० 235, विश्वविद्यालय प्रकाशन, अल्लापुर, इलाहाबाद, 1992 ।

आधार पर चेतना, अनुभूति और मनोवृत्ति के रूप में स्वीकार किया है, कुछ लोगों ने व्यावहारिकता के आधार पर रहस्यवाद को क्रिया तक ही सीमित रखा है और कुछ ने साधना और जीवन पद्धति के रूप में ग्रहण किया है। रहस्यवाद को धर्म का उच्च रूप ही माना जाता है। प्रत्येक धर्म में रहस्यवादी उत्पन्न हुए हैं और उन्होंने धर्म के परम लक्ष्य को प्राप्त किया है। सच्चे धर्म की पूर्ति रहस्यवाद में ही देखी जाती है। अत: धर्म की भाँति रहस्यवाद में ही ज्ञानात्मक, भावनात्मक तथा क्रियात्मक पहलू विद्यमान रहता है। रहस्यवाद की वही परिभाषा उपयुक्त कही जा सकती है जिसमें तीनों पहलुओं का समावेश हो।

मनोवैज्ञानिक आधार पर रहस्यवाद को परिभाषित करने का श्रेय वाल्टर टी० स्टेस, प्लेडरर, रसल, रानाडे तथा केयर्ड आदि को जाता है।

वाल्टर टी० स्टेस ने रहस्यवाद में 'ज्ञानतत्व' को ही प्रधानता दी है। उन्होंने रहस्यवाद को 'अनिर्दिष्ट एकता की चेतना' हो जाना बतलाया है। उन्होंने इस चेतना को साधारण बौद्धिक चेतना से भिन्न मानते हुए 'मस्तिष्क सम्बन्धी बौद्धिक चेतना' का नाम दिया है। स्पष्ट है कि इस परिभाषा में ज्ञानात्मक पहले पर अधिक बल दिया गया है इसलिए यह परिभाषा एकांगी है। रहस्यवाद ज्ञान या चेतना ज्ञान ही नहीं वरन् अनुभूति की भी सर्वोच्च भाव-भूमि है।[1]

प्लेडरर तथा रसेल ने 'अनुभूति' के रूप में रहस्यवाद को परिभाषित किया है। प्लेडरर के अनुसार 'रहस्यवाद ईश्वर के साथ अपनी एकता की स्पष्ट अनुभूति है। रसल के अनुसार 'तत्वत:' रहस्यवाद अनुभूति की उस गम्भीरता तथा तीव्रता के अतिरिक्त कुछ

---

(1) मिश्र डॉ० हृदय नारायण : धर्म दर्शन परिचय, पृ० सं०- 248,

नहीं है, तो अपनी विश्व सम्बन्धी भावना के प्रति अनुभव की जाती है। ये दोनों परिभाषाएँ भी एकांगी है क्योंकि ये परिभाषाएँ रहस्यवाद में वर्णित मनोदशा का अध्ययन मात्र है।[1]

केयर्ड ने रहस्यवाद को इस प्रकार परिभाषित किया है- "रहस्यवाद मन की वह प्रवृत्ति है जिसमें सभी प्रकार का सम्बन्ध आत्मा और ईश्वर के सम्बन्ध में विलीन हो जाता है।[2] हार्किंग ने रहस्यवाद को आराधना और आराधना को रहस्यवाद का पर्याय माना है।[3]

क्रियात्मक एवं व्यावहारिकता की दृष्टि से रहस्यवाद को परिभाषित करते हुए अन्डरहिल ने कहा है- "रहस्यवाद एक सम्बन्धित प्रक्रिया का नाम है जिसके द्वारा मानव ईश्वर के प्रति प्रेमपूर्ण समग्रता में प्रवेश करता है। यह एक कला है। जिसके द्वारा मनुष्य निरपेक्ष के साथ चेतन सम्बन्ध स्थापित करता है।"[4]

जीवन-पद्धति तथा अनुशासन की दृष्टि से रहस्यवाद की व्याख्या करते हुए डॉ० राधाकृष्णन ने कहा है कि रहस्यवाद एक अनुशासन है, जिसके द्वारा आध्यात्मिक तत्व की उपलब्धि होती है।

ब्राइटमैन ने रहस्यवाद को परिभाषित करते हुए कहा है - "रहस्यवाद का अर्थ दैवी

---

(1) मिश्र डा० हृदय नारायण : धर्मदर्शन परिचय, पृ० सं० 248।

(2) केयर्ड : इवोल्यूशन ऑफ थियोलॉजी इन ग्रीक फिलासफी, पृ० सं० 210, ग्लासगो, 1904।

(3) हार्किंग : द मीनिंग ऑफ गाड इन ह्यूमन एक्सपीरियंस, पृ० सं० 134, माले, 1912।

(4) ई अन्डरहिल : द मिस्टिक वे, पृ० सं. 81, जे० एम० दत्त एण्ड सन्स, लन्दन, 1914।

सत्ता से साक्षात्कार होना है।''[1]

रानडे ने रहस्यवाद को दैवीरूप माना है। यह दैवीतत्व ही इसे अधिक प्रभावोत्पादक और प्रामाणिक बनाता है। उनके अनुसार रहस्यवाद का तात्पर्य प्रातिभ ज्ञान के द्वारा उपलब्ध अपरोक्षानुभूति है। उनकी दृष्टि में तर्कसाध्य परोक्षानुभूति तथा प्रातिभजन्य अपरोक्षानुभूति में वही अन्तर है जो किसी अनुभव के विवरण तथा उस अनुभव के उपयोग में है अथवा जो ज्ञान तथा सत्ता के बीच में विद्यमान है।[2]

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि रहस्यवाद में धर्म की ही भाँति ज्ञान-भाव और क्रिया का समावेश रहता है। रहस्यवाद एक दिव्यानुभूति है जो विचार भाव और इच्छाओं के सुन्दर समन्वय से ही उत्पन्न होती है।

हिन्दी काव्य साहित्य में भी कवियों ने रहस्यवाद को अपने-अपने ढंग से परिभाषित किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में ''साधना के क्षेत्र में जो अद्वैतवाद है काव्य के क्षेत्र में वही रहस्यवाद है।''[3] बाबू गुलाबराय के मतानुसार, ''प्रकृति में मानवी भावों का आरोप कर जड़ चेतन के एकीकरण की प्रकृति छायावाद की विशेषता है और उसके मूर्त रूप की अमूर्त से तुलना करने वाले अलंकार-विधान में जैसे 'बिसरी अलकें ज्यों तर्कजाल,' लहरों के लिए 'इच्छाओं-सी असमान' तथा मानवीकरण-प्रधान लाक्षणिक प्रयोगों में परिलक्षित होती है। जब यह प्रवृत्ति कुछ अधिक वास्तविकता धारण कर अनुभूतिमय निजी सम्बन्ध की ओर अग्रसर होती है तभी छायावाद रहस्यवाद में परिणित

---

(1) ब्राइटमैन : ए फिलासफी ऑफ रिलीजन, पृ० सं० - 45, रोकिंग्टन, लन्दन, 1949।

(2) अनु० रामानंद : उपनिषदों का रचनात्मक सर्वे, पृ० सं० - 326।

(३) गुप्त डा० शान्ति स्वरूप : साहित्यिक निबन्ध, पृ० सं० - 291।

होता है।"[1] डॉ० रामकुमार वर्मा जीवात्मा के अलौकिक शक्ति के साथ पूर्ण ऐक्यात्म्य को रहस्यवाद मानते हुए लिखते हैं - "रहस्यवाद जीवात्मा की उस अन्तर्निहित प्रवृत्ति का प्रकाशन है, जिसमें वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शान्त और निश्चल सम्बन्ध जोड़ना चाहता है और यह सम्बन्ध यहाँ तक बढ़ जाता है।"[2] महादेवी वर्मा रहस्यवाद के सम्बन्ध तत्व की ओर संकेत करती हुई कहती हैं - "जब प्रकृति की अनेकरूपता में परिवर्तनशील विभिन्नता में कवि ने एक ऐसा तारतम्य खोजने का प्रयास किया जिसका एक छोर उसके असीम हृदय में समाया हुआ था, तब प्रकृति का एक-एक अंश एक अलौकिक व्यक्तित्व लेकर जाग उठा। परन्तु इस सम्बन्ध में मानव हृदय की सारी प्यास न बुझ सकी क्योंकि मानवीय सम्बन्धों में जब तक अनुराग जनित आत्म-विसर्जन का भाव नहीं घुल जाता तब तक वे सरस नहीं हो पाते और जब तक यह मधुरता सीमातीत नहीं हो जाती तब तक हृदय का अभाव दूर नहीं होता। इसी से इस अनेकरूपता के कारण हर एक मधुरतम अस्तित्व का आरोपण कर उसके निकट आत्म-निवेदन कर देना इस काव्य का दूसरा सोपान बना जिसे रहस्यमय रूप के कारण ही रहस्यवाद का नाम दिया गया।"[3]

रहस्यवाद के विषय में जयशंकर प्रसाद का मन्तव्य है - "काव्य में आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति की मुख्य धारा का नाम रहस्यवाद है।"[4] आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने कहा- "किसी परोक्ष सत्ता की अनुभूति और उससे मिलन की भावना

---

(1) गुप्त डॉ० शान्तिस्वरूप : साहित्यिक निबन्ध, पृ० सं० 291 ।

(2) वही ।

(3) वही ।

(4) वही, पृ० सं० 292 ।

रहस्यवाद है।"[1] पं परशुराम चतुर्वेदी की मान्यता है - "रहस्यवाद शब्द काव्य की एक धारा विशेष को सूचित करता है। वह प्रधानत: उसमें लक्षित होने वाली उस अभिव्यक्ति की ओर संकेत करता है जो विश्वात्मक सत्ता की प्रत्यक्ष गम्भीर एवं तीव्र अनुभूति के साथ सम्बन्ध रखती है।"[2]

उपर्युक्त परिभाषाओं में शाब्दिक अन्तर होते हुए भी कोई मौलिक भेद नहीं है। इन सभी परिभाषाओं से परमात्मा के प्रति जीवात्मा के आत्म-निवेदन मिलन के लिए प्रयत्न और मिलन की ही ध्वनि निकलती है।

रहस्यवाद के सम्बन्ध में उपरोक्त दर्शनगत और काव्यगत जो परिभाषाएँ दी गई हैं उनका सूक्ष्म अवलोकन करने पर कुछ अन्तर दृष्टिगोचर होता है। काव्य के रहस्यवाद में जहाँ भवना का प्राधान्य है वहाँ दर्शन के रहस्यवाद में ज्ञान का। काव्य का रहस्यवाद जहाँ हृदय से उद्भूत है, दर्शन का रहस्यवाद वहीं मस्तिष्क की उपज है। एक आधुनिक आलोचक ने दोनों प्रकार के रहस्यवाद के बीच भेद स्थापित करते हुए लिखा है, काव्यगत रहस्यवाद की आत्मा ज्ञान है और उसका मूल स्रोत मस्तिष्क है। ज्ञान द्वारा आत्मा और परमात्मा की एकता की स्थापना दर्शन का विषय है किन्तु भावातिरेक द्वारा इस भावात्मक ऐक्य की अनुभूति काव्य में वर्तमान रहती है। दर्शनगत रहस्यवाद में संसार की नश्वरता से उत्पन्न उदासीनता, माया की छलना से भय और ज्ञान चिन्तन आदि तत्वों को प्रमुख स्थान दिया जाता है किन्तु काव्यगत रहस्यवाद मुख्यतया मानव-प्रेम, आश्चर्य का भाव और परमात्मा के विरह में आत्मा की व्याकुलता को आत्मसात करता हुआ आगे बढ़ता है।

---

(1) गुप्त डॉ० शान्तिस्वरूप : साहित्यिक निबन्ध, पृ० सं० 292 ।

(2) वही ।

द्वितीय अध्याय

द्वितीय अध्याय

(क) रहस्यवाद की विशेषताएँ :

रहस्यवाद की प्रथम विशेषता यह है कि रहस्यवाद के द्वारा हमें तत्व की एकरूपता का ज्ञान प्राप्त होता है। संसार में हम एक व्यवस्था और सामंजस्य देखते हैं जैसे सूर्य पूरब से निकलता है, दिन-रात का चक्र प्राकृतिक नियम आदि ये सब दृश्य एक रहस्य लगते हैं जिन्हें शब्दों में वर्णित करना असंभव सा लगता है। यह रहस्यवाद की दूसरी विशेषता है। यह उपनिषदों की "नेति-नेति" पद्धति का ही अनुसरण करती है। जेम्स ने रहस्यवाद को अकथनीय कहा है। जिस प्रकार गूंगा व्यक्ति अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति नहीं कर पाता, उसी प्रकार रहस्यात्मक अनुभूति को भाषा में व्यक्त करना मानव की शक्ति के बाहर है। इतना अवश्य हो सकता है कि इसके विषय में संकेत दिया जा सकता है। अकथनीय का यह तात्पर्य नहीं है कि यह मानवीय स्पष्टीकरण प्रक्रिया को दोषमुक्त बना देता है। डा० राधाकृष्णन ने कहा है, "ऐसा सोचना कि स्पष्टीकरण में दोष के कारण ऐसा होता है, अत्यन्त ही स्वाभाविक है परन्तु रहस्यवादियों का प्रमाण यह बतलाता है कि रहस्यात्मक अनुभूति के विषय अद्भुत होने के कारण ही वर्णन के बाहर है।"[1] चूँकि अनुभव का यह ऐसा विषय है तो विलक्षण है तथा जिसकी अनुभूति रहस्यमय है,

---

(1) राधाकृष्णन: एन आइडिलिस्टिक वे ऑफ लाइफ, पृ० सं० 145,
जार्ज एलन एण्ड उनविन, लंदन, 1947 ।

इसलिए इसे भाषा की सीमा में बाँधना असंभव है।

रहस्यवाद की एक विशेषता यह भी है कि यह आत्मा और ईश्वर में तादात्म्य सम्बन्ध स्वीकार करता है। भगवान और भक्त के मध्य जो भी विरोध या भेद रहता है उन सब भेदों और विरोधों का अन्त हो जाता है जिस प्रकार पानी की बूँद समुद्र में गिरकर उसमें विलीन हो जाती हैं उसी प्रकार रहस्यवादी परमात्मा में विलीन हो जाता है। आत्मा परमात्मा के इस तादात्म्य का पता तब लगता है जब वह कह उठता है 'अहं ब्रह्मास्मि्' अर्थात 'मैं ब्रह्म हूँ।'

रहस्यवाद की एक विशेषता यह भी है कि यह ईश्वर का ज्ञान अत्मानुभूति द्वारा प्राप्त मानता है। आत्मा का परमात्मा से साक्षात्कार होता है। यह साक्षात्कार ज्ञान है। इसमें किसी भी प्रकार के सन्देह की कोई गुंजाइश नहीं रहती और न ही इसको प्रमाणित करने की कोई आवश्यकता ही है। डा० राधाकुष्णान ने इसे 'प्रामाण्यं-निरपेक्षम' कहा है। आत्मानुभूति तर्क का विरोध नहीं करती वरन् तर्क से सामंजस्य रखने की कोशिश करती है। डा० राधाकृष्णन के शब्दों में "आत्मानुभूत अतार्किक नहीं वरन् तर्क से परे है।[1]

रहस्यवाद की यह विशेषता भी है कि प्रत्येक रहस्यवादी कलात्मक प्रवृत्ति का प्रयोग करता है। ईश्वर का ज्ञान रहस्यवाद में कला के माध्यम से संभव होता है। दूसरे शब्दों में कहे तो ईश्वर का कलात्मक प्रतिरूप रहस्यवाद का प्रधान अंग है। दोनों ही संवेगात्मक प्रेम की अभिव्यक्ति हैं। किन्तु दोनों में अन्तर भी है वह अन्तर यह है कि कलाकार विवेक और बुद्धि का सहारा लेता है परन्तु रहस्यवादी तर्क के लिए इनका कोई स्थान नहीं।

---

(1) राधाकृष्णन : एन आइडिलिस्टिक वे ऑफ लाइफ, पृ० सं० 247, जार्ज एलन एण्ड उनविन, लंदन, 1947 ।

रहस्यवादी तो भावना का आश्रय लेता हैं रहस्यवादी और कलाकार में एक अन्तर यह भी है कि रहस्यवादी का उद्देश्य ईश्वर का साक्षात्कार करना है परन्तु कलाकार का उद्देश्य किसी वस्तु का निर्माण करना है। रहस्यवादी के चिन्तन का विषय सूक्ष्म है जबकि कलाकार स्थूल भौतिक वस्तु से सम्बद्ध है।

रहस्यवाद की यह भी विशेषता है कि रहस्यवादी को अपनी समाधि में आनन्द ही मिलता है। उसके अनुभव के आधार पर परमतत्व आनन्द ही है। ''उपनिषदों के अनुसार आत्मसाक्षात्कार का अनिवार्य सम्बन्ध आनन्द लाभ से है। इस आनन्द को सुख और राग की मात्रा से नहीं नापा जा सकता। यह अपने प्रकार का विलक्षण अनुभव है।''[1] रानडे ने इस आनन्दतत्व की विशेषता का उल्लेख करते हुए कहा है, ''आनन्द साधक के पास स्वयं आता है। यह अपने प्रभाव में इतना शक्तिशाली है कि इसको सुनने से ही सांसारिकता लुप्त हो जाती है और नित्यता हमारे पास स्वमेव आती है।''[2] स्पष्ट है कि सच्चा आनन्द केवल आत्मदर्शन में ही मिलता है। अतः रहस्यानुभूति द्वारा परमानन्द की उपलब्धि सहज ही हो जाती है।

रहस्यवाद की सातवीं विशेषता का निरुपण रानडे ने इस प्रकार किया है - ''रहस्यवाद औपनिषदिक दर्शन की परिपूर्णता है, यही सभी दर्शनों की परिपूर्णता है।''[3]

विलियम जेम्स ने रहस्यवाद की चार मुख्य विशेषताएँ बतलाई हैं--

(1) **अनिर्वचनीयता-** अर्थात रहस्यवादात्मक अनुभवों को शब्दों में अभिव्यक्त

---

(1) राधाकृष्णन : कन्टेम्पोररी इंडियन फिलासफी, पृ० सं० 536 ,
जार्ज एलन एण्ड उनविन, लंदन, 1952 ।

(2) रानडे : मिनिस्टिसिज्म इन महाराष्ट्र, पृ० सं० 121,
अध्यात्म विद्या मंदिर सांगली, 1934 ।

(3) ए कन्स्ट्रक्टिव सर्वे ऑफ उपनिषदिक फिलासफी, पृ० सं० 65,
भारतीय विद्या भवन, बम्बई, 1927 ।

नहीं किया जा सकता। (2) **सत्यता का अनुभव** - अर्थात् ऐसे अनुभवों में अनुभवकर्ता को कोई सन्देह नहीं रहता। यह ज्ञान से ज्योतिर्मय रहता है। रहस्यवादी में आन्तरिक दृष्टि रहती है। (3) **क्षणिकता** - रहस्यवादी के अनुभव क्षणिक होते हैं। इसमें स्थायित्व नहीं रहता। (4) **निष्क्रियता** - अनुभव की पूर्वावस्था में साधक को अपनी क्रियाओं के लिए कोई प्रमुख स्थान नहीं हैं। रहस्यवादी किसी महान शक्ति के प्रभाव में आने से निष्क्रियता का अनुभव करने लगता है।[1]

आर० एम० ब्यूक ने रहस्यवाद की निम्नलिखित विशेषताएँ बताई –

(1) आत्मगत प्रकाश (2) नैतिक उच्चता (3) बौद्धिक सम्बद्धता (4) अमरता का ज्ञान (5) मृत्यु के भय का लोप (6) आकस्मिकता ।

डी० टी० सुजुकी ने भी रहस्यवाद की निम्नांकित विशेषताएँ बताई –

(1) असंप्रेषणीयता (2) प्रातिभिक सूझ (3) अधिकार (4) स्वीकृति (5) अतीन्द्रिय ज्ञान (6) अवैयक्तिक चेष्टा (7) उच्चता की भावना (8) क्षणिकता ।[2]

स्टेस ने रहस्यवाद की निम्नांकित विशेषताओं पर प्रकाश डाला है–

(1) एकत्व की चेतना – रहस्यवादी जब परमसत्ता से तादात्म्य स्थापित कर लेता है तो वह अपने अनुभवों को इस रूप में प्रकट करता है– "सब कुछ एक है।" उस 'एक' सत्ता को वह संसार की विभिन्न वस्तुओं द्वारा ही प्रत्यक्ष करता है या इसे इस प्रकार भी कह सकते हैं कि जगत में नानात्व को अपने भौतिक ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष करता हुआ वह एक ही तत्व का आभास पाता है। आधुनिक भारतीय रहस्यवादी श्रीरामकृष्ण का

---

(1) प्रो० जेम्स : प्रिंसपुल ऑफ साइकोलॉजी, पृ० सं० 250, लंदन, 1891 ।

(2) मिश्र हृदय नारायण : धर्म दर्शन परिचय, पृ० सं० 230 ।

अनुभव एकत्व की चेतना का स्पष्टतम् उदाहरण है। श्रीरामकृष्ण के अनुसार - "मैंने एक दिन देखा कि एक ही चैतन्य सर्वत्र है - कहीं भेद नहीं है। पहले उसने (ईश्वर) दिखाया कि बहुत से मनुष्य और जानवर हैं -- उनमें बाबू लोग हैं, अंग्रेज और मुसलमान हैं। उसके हाथ में एक छोटी थाली है जिसमें भात है। उस छोटी थाली का भात वह सबके मुंह में थोड़ा दे गया। मैंने भी थोड़ा सा चखा। ईश्वर ने दिखा दिया कि सब एक है, अभेद है।"[1] उक्त अनुभूति से स्पष्ट है कि नानात्व है अवश्य परन्तु सब एक है।

(2) आत्मगत रूप में सत्ता की अनुभूति – रहस्यवादी को आत्मगत रूप से एक ही की स्थूल रूप में प्रतीति होती है। साधक अपने अन्तरस्थ रूप में एक ही को बहुत्व के रूप में देखता है। वह देखता है कि ईश्वर ही सर्वत्र है। अधिककर रहस्यवादी देशकाल से परे एक ऐसी स्थिति में पहुँच जाता है जिसमें वाह्य परिवेश का ध्यान नहीं रहता तथा वह अनन्त सत्ता में लीन हो जाता है।

(3) वस्तुनिष्ठता – रहस्यानुभूति वस्तुनिष्ठ होती है। इस बात की सिद्धि इस तथ्य से होती है कि विश्व में सभी प्रकार के रहस्यवादियों के अनुभव इसे व्यक्त करते हैं। जेम्स ने इसी को 'नोएटिक क्वालिटी' कहा है। जेम्स कहते हैं कि रहस्यवादी सत्यता का अनुभव करता है। यद्यपि यह विवादास्पद विषय है, परन्तु इसका निराकरण सरल है क्योंकि वस्तुनिष्ठता एक अनुभूत निश्चिंतता है। इस सम्बन्ध में यह कहना अपेक्षित होगा कि रहस्यवादियों के साथ-साथ सामान्य व्यक्तियों की भी अनुभूतियों से प्रकट है कि उनके तत्काल अनुभूत विषयों में भी वस्तुनिष्ठता प्राप्त होती है। रहस्यवादियों के अनुभवों की वस्तुनिष्ठता उनकी सामान्यानुभूति पर भी निर्भर है। अनेक रहस्यवादियों की अनुभूतियों

---

(1) श्री रामकृष्ण वचनामृत (प्र० भा०), पृ० सं० 70 ।

को देखा जा सकता है, चाहे वे जिस देश, जाति, धर्म या मत के हों।

(4) ईश्वर कृपा, शान्ति, प्रसन्नता एवं आनन्द का अनुभव – रहस्यवाद की अनुभूति में रहस्यवादी को परमसत्ता की कृपा अनुभूत होती है। उसी अनुभूति के फलस्वरूप वह परम शान्ति, आनन्द, प्रसन्नता का अनुभव भी प्राप्त करता है। यह प्रसन्नता भौतिक जगत की प्रसन्नता से नितान्त भिन्न है। परमतत्व सच्चिदानन्दस्वरूप है। इसलिए साधक उसे प्राप्त कर सच्चिदानन्द होता है। संसार के सभी साधकों ने ईश्वर की ऐसी अनुपम कृपा, शान्ति और आनन्द को अनुभूत किया है।

(5) धार्मिक, पवित्र और दैवी अनुभूति – रहस्यवादी अनुभूति बुद्धि और प्रज्ञा से परे दैवी एवं पवित्र होती है। इस अनुभूति में प्रपंचात्मक दृष्टिकोण समाप्त हो जाता है। दिव्यानुभूति रहस्यवादियों का सारतत्व है। साधक जब विश्व चेतना से सम्बन्ध स्थापित कर लेता है तब अद्वैत में पहुँच जाता है यह स्थिति दिव्य अनुभव की होती है।

(6) आत्मवि ोधी उक्ति या विरोधाभास – सामान्यतः रहस्यानुभूति विरोधाभास से युक्त होती है। रहस्यवादी अनुभूतियों को व्यक्त करने के लिए प्रतीक, योजना, उपमा, अलंकार और उपदेशात्मक कथाओं का आश्रय लेते हैं क्योंकि रहस्यवादी का सम्बन्ध अतीन्द्रिय वस्तुओं से होता है जिनकी अनुभूति सामान्य भौतिक जगत से भिन्न रूप में होती है।

(7) अनिर्वचनीयता– रहस्यवादियों की अनुभूतियों का वर्णन शब्दों द्वारा नहीं किया जा सकता इसलिए जेम्स इन अनुभूतियों को अकथनीय कहते हैं। रुडोल्फ आटो भी रहस्यवादी अनुभूति को अकथनीय कहते हैं। यद्यपि शब्दों द्वारा रहस्यवाद का वर्णन

नहीं किया जा सकता किन्तु इस आधार पर रहस्यवाद को अज्ञेयवाद भी नहीं कहा जा सकता। रहस्यवाद अज्ञेयवाद से सर्वथा भिन्न है, अज्ञेयवादी के विरुद्ध रहस्यवादी का विश्वास है कि सत् का गुण यद्यपि वर्णनीय नहीं है तथापि एक प्रकार के अव्यवहित ज्ञान द्वारा उसका अनुभव किया जा सकता है जो संप्रत्ययों के परोक्ष ज्ञान की अपेक्षा बहुत अधिक संतोषप्रद होता है। सत् के इस अव्यवहित अनुभव को रहस्यवादियों द्वारा सत्ता की एक असाधारण अथवा विशिष्ट अवस्था मानी जाती है।

रहस्यवाद की विशेषताओं के सम्यक परीक्षण से यह निष्कर्ष निकलता है कि यह बौद्धिक एवं तार्किक प्रयास की अपेक्षा सत्य को प्राप्त करने का सरल एवं अन्तः प्रज्ञात्मक प्रयास है। यह सत्य के समक्ष उपस्थित होने की भावना का विस्तार है और इस महत्वपूर्ण खोज में आत्मा की गहराई में विद्यमान विभिन्न सिद्धान्तों के साथ विरल रूप से तादात्म्य संबंध नहीं रखती, बल्कि अविरल होकर उसी के समान हो जाती है। एम० सरकार का इस संदर्भ में यह मत है कि "रहस्यवाद जीवन का स्थायी दर्शन नहीं है यह जीवन और चेतना की सर्वोच्चता है। यह पूर्ण विकास की प्रक्रिया है। इससे नवीन संभाषण अनन्त सामंजस्य और नूतन आकर्षण की अनुभूति होती है।"[1]

स्पष्ट है कि रहस्यानुभूति हृदय का धर्म है। यह अनिर्वचनीय और मूक होती है अतः यह स्वानुभूति द्वारा ही प्रकट की जा सकती है। वह अपनी अभिव्यक्ति के लिए उपमा, दृष्टान्त, अलंकार आदि का प्रयोग करता है। यही उसकी भाषा है।

---

(1) एम० सरकार : हिन्दू मिस्टीसिज्म, पृ० सं० 24,
केगनपॉल, लंदन, 1934 ।

(ख) रहस्यवाद के सोपान:

रहस्यवाद के निम्नांकित पाँच सोपान माने गए हैं –

1) प्रभु के प्रति जिज्ञासा, कुतूहल अथवा विस्मय की भावना ।
2) प्रभु का महत्व और उसकी अनिर्वचनीयता ।
3) प्रभु के दर्शन का प्रयत्न ।
4) प्रभु के प्रति विभिन्न सम्बन्धों की उद्‌भावना ।
5) प्रभु से एकाकारता ।

अधिकांश विद्वान रहस्यवाद की क्रम से तीन ही कोटियाँ स्वीकार करते हैं। प्रथम अवस्था में साधक के अन्दर असीम सत्ता के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न होती है। वह प्रकृति के समस्त रूप सौंदर्य तथा जगत के कार्यकलापों में अन्तर्निहित किसी अलौकिक शक्ति को जानने का प्रयत्न करता है। रहस्यवाद की दूसरी स्थिति वहाँ आती है जहाँ साधक असीम सत्ता से प्रेम करने लगता है। उसकी भावनाएँ इतनी तीव्र हो जाती है कि वह एक प्रकार का पागलपन अनुभव करने लगती है। प्रेम की इस दशा में आत्मा अपने भौतिक अस्तित्व से ऊपर उठ जाती है। इस प्रेम भावना के कारण लौकिक तथा अलौकिक जीवन में सहज ही सामंजस्य प्रस्तुत हो जाता है। यहाँ अन्तर्जगत और बाह्यजगत दोनों एक-दूसरे से मिल जाते हैं। तीसरी कोटि में साधना चरम सीमा पर पहुँच जाती है। यहाँ आत्मा परमात्मा में लीन हो जाती है। यहाँ पहुँचकर आत्मा का पृथक अस्तित्व समाप्त हो जाता है और वह परमात्मा के साथ एकाकार हो जाती है। इस स्थिति में वह सहज ही परमात्मा के गुणों का अपने पर आरोप कर लेती है। ये तीनों सोपान अपरिवर्तीय हों, ऐसा नहीं कहा जा सकता। परिस्थिति भेद से इनमें थोड़ा-बहुत अन्तर किया जा सकता है। ऐसा भी हो

सकता है कि साधक प्रथम सोपान को पार किए बिना ही द्वितीय सोपान पर पहुँच जाए।

(ग) रहस्यवाद के रूप :

रहस्यवाद को दो रूपों में विभाजित किया गया है। प्रथम रूप अंतर्मुखी है और द्वितीय रूप बहिमुर्खी है। अंतर्मुखी को 'अन्तस्थ पद्धति' कहते हैं और बहिर्मुखी को 'वाह्यास्थ पद्धति'। दोनों का लक्ष्य एक ही है और वह है परमसत्ता से तादात्म्य स्थापित करना। लक्ष्य की समानता के बावजूद भी दोनों में पर्याप्त अन्तर है।

जो रहस्यवादी अंतर्मुखी होते हैं उनको अपने वाह्येन्द्रिय विषय का कोई ज्ञान नहीं रहता। इनके भीतर ही समस्त भावनाओं, संवेदनाओं और विचारों का तिरोभाव हो जाता है। इनकी साधारण चित्तशक्ति कुण्ठित हो जाती है और उसका स्थान एक ऐसी अन्य शक्ति ग्रहण कर लेती है जिसे रहस्यात्मक चेतना कहा जाता है। 'समाधि' में ऐसी स्थिति का बोध होता है। इस अवस्था में विशुद्ध चेतना मात्र रहती है।

बहिर्मुखी रहस्यवादियों में वाह्येन्द्रियाँ सतत् क्रियाशील रहती है। इनके द्वारा समस्त विषय यथापूर्व अनुभव में आते रहते हैं। परन्तु रहस्यवादी उनको साधारण अनुभवों से भिन्न रूप में ग्रहण करता है। इस स्थिति की विशेषता यह है कि रहस्यवादी विभिन्न विषयों की विभिन्नता में भी एकत्व का अनुभव करता है। बहुत्व को देखता हुआ भी वह पार्थक्य को स्थान नहीं देता। वह एक परमसत्ता का अनुभव करता है। यद्यपि दोनों रहस्यवादी भिन्न-भिन्न पद्धतियों का प्रयोग करते हैं फिर भी उनमें एकता है। रानडे के शब्दों में "सभी युग और देशों के वासी दार्शनिकों की एक ही भाषा बोली है क्योंकि वे एक ही अध्यात्मिक देश के निवासी हैं।"

समान्यता जीवन के स्थूल-सूक्ष्म सभी रूपों में रहस्यात्मकता के दर्शन किये जा सकते हैं। इसी कारण इस भावना का वर्गीकरण अनेक रूपों में किया गया है और किया

जा सकता है। आचार्य शुक्ल आदि साधनात्मक और भावनात्मक नामों से रहस्यवाद की मात्र दो ही कोटियाँ मानते हैं, तो पाश्चात्य विद्वान प्रेम, धर्म और प्राकृतिक तत्वों से सम्बन्धित रहस्यवाद की कोटियाँ या श्रेणियाँ स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार कुछ विद्वान वास्तविक तथा काल्पनिक रहस्यवाद भी स्वीकार करते हैं। हमारे विचार में रहस्य वास्तव में एक ही है, हां इतना अवश्य है कि स्थान एवं पात्र की विभिन्नता के कारण ही वहाँ विभिन्न नाम एवं उपाधियाँ थोप दी जाती हैं। रहस्यवाद स्वयं में एक दर्शन है, अत: दार्शनिक रहस्यवाद की अलग कोई कोटि नहीं स्वीकार करते। जहाँ तक काव्यात्मक रहस्यवाद का प्रश्न है, उसमें प्रेम तत्व तथा रागात्मक भावनाएँ अनिवार्य हैं, फिर चाहे वह प्रकृति के प्रति हो चाहे किसी अलक्षित सत्ता के प्रति तादात्म्य रहस्य साधना की अन्तिम स्थिति है। अत: उपरोक्त वर्ग विभाजन अनावश्यक सा ही प्रतीत होता है फिर भी सामान्य जनों को समझाने के लिए यदि उपरोक्त वर्ग विभाजन को स्वीकार कर लिया जाये तो कोई असंगत बात नहीं है।

वस्तुत: प्रत्येक विचारधारा पर युग का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। यदि हम मध्यकालीन युग की चर्चा करें तो हिन्दी साहित्य क्षेत्र में भी रहस्यवादी कवियों के दो भेद किये जा सकते हैं– (1) प्राचीन रहस्यवादी कवि तथा (2) आधुनिक रहस्यवादी कवि। इन दोनों प्रकार के कवियों को हम क्रमश: यथार्थ रहस्यवादी और काल्पनिक रहस्यवादी भी कह सकते हैं। यथार्थ रहस्यवादी से तात्पर्य ऐसे साधकों से है जिनका जीवन ही रहस्य साधना द्वारा परम् तत्व की अनुभूति एवं उसके साथ तादात्म्य करने में रत हो गया। उन्होंने वैयक्तिक साधक होते हुए भी समष्टिगत तत्वों को भी उसी में पाने का प्रयत्न किया। हिन्दी में कबीर, नानक, दादू आदि इसी प्रकार के रहस्य साधक हैं। उनकी रहस्य

साधना में वैयक्तिक मोक्ष की कामना के साथ-साथ सामाजिक मोक्ष की मंगल कामना भी अन्तर्निहित है। इसके विपरीत आधुनिक रहस्यवादियों में जिस रहस्यमयता के दर्शन होते है। वहाँ कल्पना की ही प्रधानता है। निराला एवं महादेवी में भी हमें कुछ सीमा तक पहले जैसी भावना की अनुभूति अवश्य होती है किन्तु अन्य आधुनिक रहस्यवादियों का चेतनागत परिवर्तित रूप उन्हें हमारे विचार में रहस्य साधक रहने ही नहीं देता। फिर भी वहाँ तथाकथित काल्पनिक रहस्यमयता तो है ही। रहस्यवाद में अद्वैत दर्शन का प्राधान्य है। उसका संबंध आत्मा-परमात्मा तथा जगत् से है किन्तु आधुनिक रहस्यवाद में परमात्मा को छोड़ दिया जाता है। उसका संबंध केवल आत्मा और जगत् से है। प्राचीन रहस्यवाद में आत्मा के साथ परमात्मा के संबंध को अभिव्यक्ति दी जाती है, जबकि आधुनिक रहस्यवाद आत्मा तथा परमात्मा के साथ संबंध स्थापित करता है। आधुनिक रहस्यवाद प्रकृति के सभी उपादानों में एक प्राण चेतना के दर्शन करता है और उसके साथ आत्मीयता स्थापित करता है, जबकि प्राचीन रहस्यवादी को प्रकृति के निखिल वैभव में परमसत्ता के दर्शन होते हैं। वह इस दृश्यमान जगत् की उपेक्षा करता है, जबकि आधुनिक रहस्यवाद सारी प्रकृति और सम्पूर्ण विश्व को ही उस अखण्ड चेतन सत्ता का प्रतिबिम्ब स्वीकार किया जाता है। प्राचीन रहस्यवाद में जीव की स्थिति अत्यन्त दीन है, जबकि आधुनिक रहस्यवाद में जीव की भी महत्ता स्वीकार की गई है। आधुनिक रहस्यवाद में अत्यन्त सत्ता के प्रति केवल जिज्ञासा होती है और प्राचीन रहस्यवाद में उस सत्ता के प्रति प्रेम की व्यंजना।

वास्तव में दोनों एक-दूसरे के इतने निकट और एक-दूसरे के इतने समान

हैं कि बिना दोनों के बीच एक विभाजन रेखा बनाए उनका स्वतंत्र अस्तित्व स्पष्ट नहीं हो सकता। प्रो० भारत भूषण सरोज ने इन दोनों ही वर्गों के रहस्यवादी कवियों में अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखा है–"इनके (प्रसाद, निराला, पंत तथा महादेवी) और भक्तिकालीन साधकों और सन्तों के रहस्यवाद में प्रमुखत; एक अन्तर हमें दिखाई पड़ता है और वह यह कि आधुनिक युग के कवि पहले हैं और साधक भक्त या दार्शनिक बाद में और सन्त कवि पहले सन्त हैं और बाद में कवि। उनका रहस्यवाद उनके व्यक्तित्व का एक ही नहीं, अपितु समग्र भाग कहा जा सकता है और आधुनिक कवियों का रहस्यवाद उनके कवि रूप का अंग है तथा उनके कवित्व का एक अंश है। इसी बात को और भी स्पष्ट के लिए हम यों कह सकते हैं कि सन्त कवियों का काव्य उनके कवित्व और काव्य का अंग है।"[1] प्राचीन रहस्यवाद और अर्वाचीन रहस्यवाद में एक अन्तर यह भी है कि आधुनिक रहस्यवाद पश्चिमी धारा से प्रभावित है। प्राचीन रहस्यवाद में बौद्धिक चेतना की प्रधानता है, किन्तु आधुनिक रहस्यवाद में प्रेम संबंध तथा प्रणय निवेदन को प्रमुख स्थान दिया गया है। प्राचीन रहस्यवाद में धार्मिक अनुभूति एवं साधना का प्राधान्य है, किन्तु आज का रहस्यवाद धार्मिक साधना का फल न होकर मुख्यतः कल्पना पर आधारित है। हिन्दी में आधुनिक रहस्यवाद पश्चिमी सभ्यता की देन है, प्रसाद जी इस बात को अस्वीकार करते हैं। वे इसे

---

(1) गुप्त डा०शान्ति स्वरूप : साहित्यिक निबन्ध, पृ० सं० 295

भारतीय परम्परा का विकसित रूप मानते हैं। प्रसाद जी इसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं– वर्तमान हिन्दी में इस अद्वैत रहस्यवाद का सौन्दर्यमय व्यंजना होने लगी है। वह साहित्य में रहस्यवाद का विकास है। वर्तमान रहस्यवाद की धारा भारत की निजी सम्पत्ति है, इसमें संदेह नहीं किया जा सकता। एक अन्य स्थल पर उन्होंने लिखा है कि आज साहित्य में विश्व सुन्दरी प्रकृति में चेतना का आरोप संस्कृति वाड.मय में प्रचुरता से प्राप्त होता है। यह प्रकृति या शक्ति का रहस्यवाद 'सौन्दर्य लहरी' के 'शरीरत्वं शम्भो' का अनुकरण मात्र है। वर्तमान हिन्दी का रहस्यवाद स्वाभाविक रूप से विकसित होकर आया है। महादेवी ने भी रहस्यवाद के तत्वों का उल्लेख करते हुए उसे परम्परागत ही माना है। वे लिखती हैं– "आज गीत में हम जिसे नये रहस्यवाद के रूप में ग्रहण कर रहे हैं, वह इन सबकी विशेषताओं से युक्त होने पर उन सबसे भिन्न है। उसने परा-विद्या की अपार्थिवता ली, वेदान्त के अद्वैत की छाया ग्रहण की, लेकिन प्रेम से तीव्रता उधार ली और इन सबको कबीर के सांकेतिक दाम्पत्य भाव सूत्र में बाँधकर एक निराले स्नेह संबंध की सृष्टि कर डाली जो मनुष्य के हृदय को आलम्बन दे सका, उसे पार्थिव प्रेम से ऊपर उठा सका तथा मस्तिष्क को हृदयमय और हृदय को मस्तिष्कमय बना सका।"[1] एक आलोचक का कथन है कि रहस्यवाद की प्राचीन धारा ने जिस प्रकार भक्ति काल में नैराश्यपूर्ण

---

(1) गुप्त डा०शान्ति स्वरूप : साहित्यिक निबन्ध, पृ० सं० 304

जीवन में आशा का संचार किया उसी प्रकार आज का रहस्यवाद भौतिक संघर्ष से पीड़ित मानव हृदय को शान्ति पहुँचाने में समर्थ हुआ। वास्तव में रहस्य भावना एक ऐसी सुरम्य स्थली है जहाँ बैठकर अनेक प्रकार के अतिवादों एवं अहमान्यताओं का शिकार मानोचेतना आत्मचिन्ताओं में लीन होकर जीवन का सत्य का समीपता से दर्शन कर सकती है। सभी में एक ही जीवन तत्व या सत्ता का आभास पाकर सभी के सुख-दु:ख को अपना मानकर लौकिक दृष्टि से ही सही मानवता के कल्याण के मार्ग पर उत्सुक हो सकता है।

(घ) रहस्यवाद के उदाहरण :

उपनिषदों में दर्शन और रहस्यवाद का सच्चा समागम देखा जाता है। समस्त भारतीय धर्मों ने उपनिषदिक विचारों को किसी-न-किसी रूप में अवश्य ग्रहण किया है। उपनिषदों का मूल मंतव्य आत्मा और ब्रह्म की एकता स्थापित करना है। 'अहं-ब्रह्मास्मि' और 'तत्वमसि' आदि महावाक्य इसी के सूचक हैं। ऐसी सत्ता जो जगत् में सर्वत्र व्याप्त है वही सत्ता मनुष्य में भी विद्यमान है इसलिए उपनिषदों में सर्वेश्वरवाद का पुट दृष्टिगोचर होता है।

रहस्यवाद में जिस प्रकार सत्ता की अनुभूति को आत्मविरोधी उक्तियों द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है उसी प्रकार उपनिषदों में ऐसे अनेक दृष्टान्त मिलते हैं। कठोपनिषद में वह सत्ता निकट तथा दूरस्थ भी है। ऐसा कहा गया है कि 'आसीनो दूरं पुजति शयानो याति सर्वत:' अर्थात 'वह सत्ता ऐसी है जो बैठी भी है और

दूर देश में चलती भी है। सोते हुए भी सब ओर आती जाती भी वही है।[1] सत्ता की इस महिमा को समझने वाले रहस्यवादी के लक्षण भी उपनिषदों में बतलाये गये हैं। 'अणोरणीयान् महतो महीयान् '[2] जैसी उक्तियाँ भी मिलती हैं। ईशावास्योपनिषद में परमसत्ता के स्वरूप को इसी प्रकार आत्मविरोधी उक्तियों द्वारा चित्रित किया गया है। वह परमेश्वर चलता भी है, नहीं भी चलता। वह दूरस्थ भी है, और समीपस्थ भी है। वह समस्त वाह्य और आन्तरिक जगत् में व्याप्त है।

उपनिषदों में आत्मा और ब्रह्म की एकता रहस्यवाद को ही प्रकट करती है। जिस प्रकार रहस्यवाद में ज्ञाता ज्ञेय का भेद समाप्त हो जाता है उसी प्रकार उपनिषद में ब्रह्म और आत्मा की एकता स्वीकार की गयी है। ब्रह्म और आत्मा का अद्वैत ही रहस्यवाद है। मुण्डक उपनिषद में एक उपमा द्वारा इस प्रकार व्यक्त किया गया हैं– "जिस प्रकार प्रवाहित होती हुई नदियाँ अपना-अपना नामरूप छोड़कर समुद्र में समाहित हो जाती हैं उसी प्रकार रहस्यवादी नामरूप से रहित होकर दिव्य परमतत्व में लीन हो जाता है। यहाँ तक कि ब्रह्मज्ञ पुरुष स्वयं ब्रह्म हो जाता है।"[3] वह सत्-चित्-आनन्द की स्थिति में पहुँच जाता है क्योंकि स्वयं ब्रह्म ही सच्चिदानन्द हैं।

भारतीय परम्परा में योग को भी रहस्यवाद का प्रतीक माना जाता है। विभिन्न योग

---

(1) कठोपनिषद, 1-2.21 ।

(2) वही, 22 ।

(3) मुण्डक उपनिषद, 2-8.9 ।

मार्ग रहस्यवादी पंथों के प्रतीक हैं। योग वह विधि है जिसके द्वारा व्यक्ति को सर्वोच्च रहस्यानुभूति प्राप्त होती है। इसमें जीव और ब्रह्म, आत्मा और परमात्मा, उपासक और उपास्य का योग स्थापित होता है। जीव और ब्रह्म द्वैत-अद्वैत एवं द्वैताद्वैत आदि रूपों में वर्णन किया जाता है।

भक्ति मार्ग का अनुसरण करने वाले अनेक साधक और संत का प्रसंग भी भारतीय परम्परा में मिलता है, जो रहस्यवादी थे। वैष्णव धर्म में भक्ति को रहस्यवादी स्थिति तक पहुँचने का एकमात्र मार्ग माना गया है। ईश्वरी अनुभूति और एकाकारिता एक अनुपम उपाय भक्ति है। इस प्रसंग में आलवार भक्तों– नामदेव, ज्ञानदेव, संत तुकाराम, मीराबाई आदि को उच्चकोटि के रहस्यवादियों में रखा जा सकता है। ज्ञान और भक्ति से मिश्रित अन्तरमुखी और बर्हिमुखी वृत्ति के बीच अवस्थित कुछ अति आधुनिक भारतीय रहस्यवादी का दृष्टान्त भी मिलता है जिसमें श्री रामकृष्ण, स्वामी रामतीर्थ एवं श्री अरविन्द को लिया जा सकता है। आधुनिक भारतीय चिन्तकों एवं लेखकों में रवीन्द्रनाथ टैगोर, प्रो० रानाडे तथा डा० राधाकृष्णन को रहस्यवाद के पोषक तथा समर्थक के रूप में लिया जा सकता है। रविन्द्रनाथ टैगोर की कविताओं में रहस्यवाद का पुट देखते ही बनता है।

रहस्यवाद का एक दृष्टान्त चीन के धर्म ताओवाद में भी प्राप्त होता है। इसमें 'ताओ' को ही आराधना का विषय माना जाता है। एक तरह से इसे एक पंथ का रूप दिया जाता है। इस पंथ का रूप अत्यन्त रहस्यपूर्ण है। कहा जाता है कि सृष्टि का विकास इसी से हुआ है और अंत में सृष्टि का विलीनीकरण भी इसी में होता है। एकाकारिता की यह

स्थिति ही रहस्यवाद की वास्तविक स्थिति है। 'ताओ' के प्रति आत्मसमर्पण आवश्यक माना जाता है। इसी कारण इसमें सक्रियता को उतना महत्व नहीं दिया जाता जितना कि निष्क्रियता को। 'ताओ' जो एकमात्र आराधना का विषय है उससे एकत्व का बोध होता है। इस अर्थ में एकमेव सत्ता का अस्तित्व और उसी में शेष जगत् का विलीनीकरण और एकता रहस्यवादात्मक स्थिति का सच्चा रूप है।

प्राचीन यूनान में रहस्यवादी दृष्टिकोण प्लेटो के विचारों में प्राप्त होता है। प्लेटो के विचारों में प्राप्त होता है। प्लेटो एक दार्शनिक और कवि थे। उनकी भाषा और शैली रहस्यवाद की झलक देती है। इस बात की पुष्टि उनके प्रत्यय सिद्धान्त से होती है।

ग्रीक दर्शन में प्लाटिनस के दृष्टिकोण में भी रहस्यवाद की झलक मिलती है। प्लाटिनस के मत को 'नव्य-प्लेटोनिज्म कहा जाता है। प्लाटिनस स्वयं रहस्यवादी एवं धार्मिक प्रवृत्ति के थे। वे तत्वज्ञान की प्राप्ति बुद्धि से नहीं वरन् समाधि दशा से आन्तरिक प्रेरणा द्वारा प्राप्त होती है। प्लाटिनस मूल तत्व ईश्वर को मानते हैं। संसार इसी से परिचालित होता है। ईश्वर अपरोक्षानुभूति का विषय है। प्लाटिनस का यह मत अद्वैत वेदान्त से मिलता है।

ईसाई धर्म में भी रहस्यवाद का पुट प्राप्त होता है। ईसाइयों का धर्मग्रन्थ बाइबिल है। इस ग्रंथ में ईसा के उपदेश संग्रहित हैं। उन्होंने मनुष्य और ईश्वर, आत्मा और परमात्मा की एकता को माना है। जगत् ईश्वर की शक्ति पर ही निर्भर करता है। ईसाई धर्म के प्रभाव से ही अनेक रहस्यवादी उत्पन्न हुए। संत आगस्टाइन ईसाई धर्म के अनुयायी और ईसा के भक्त बने। उनकी पुस्तकें 'सिटी ऑफ गॉड' तथा 'कन्फेशन्स'

उनकी रहस्यात्मक भावना को अभिव्यक्त करती है। आगस्टाइन के अनुसार समस्त वस्तुएँ ईश्वर पर निर्भर है। ईश्वर से बाहर और परे कुछ भी नहीं है। आगस्टाइन की छाप उनके भक्त मिस्टर एखार्ट पर पड़ी और वे भी रहस्यवादी कहलाए।

आधुनिक पाश्चात्य दार्शनिकों में स्पिनोजा की गिनती रहस्यवादी के रूप में की जाती है। स्पिनोजा के अनुसार परमतत्व ईश्वर है। 'सब कुछ ईश्वर है और ईश्वर ही सब कुछ है। यही कारण है कि इनके मत को सर्वेश्वरवाद कहा जाता है। स्पिनोजा प्रकृति और ईश्वर में अभिन्नता मानते हैं। कुछ लोग इसका गलत अर्थ लगाकर स्पिनोजा को यथार्थवादी, अनीश्वरवादी और प्रकृतिवादी भी कहते हैं। किन्तु यह आक्षेप निर्मूल हैं जो स्पिनोजा को सही अर्थ में समझते हैं वे उन्हें ईश्वरोन्मत कहते हैं। स्पिनोजा के अनुसार ईश्वर की अनुभूति में ही मानव कल्याण निहित है। ईश्वरीय अनुभूति प्राप्त करने का ही आचरण सर्वोत्तम है। जीवन में सुख और शान्ति 'ईश्वर-प्रेम' पर ही निर्भर है। सब कुछ ईश्वरमय तथा ईश्वर में ही सब कुछ देखना यही ईश्वर-प्रेम है। स्पिनोजा का यह ईश्वर-प्रेम वास्तव में रहस्यवादी प्रेम है।

पाश्चात्य चिन्तकों में प्लाटिनस से लेकर आधुनिक युग तक अनेक रहस्यवादी विचारक हुए। बीसवीं शताब्दी में अण्डरहिल, जेम्स और बर्गसा आदि प्रमुख हैं। रहस्यवाद के प्रबल व्याख्याता जेम्स और स्टेस को ही माना जाता है। जेम्स की पुस्तक 'वेरायटी ऑफ रिलीजियस एक्सपीरियेन्स' रहस्यवाद के संबंध में एक अनुपम कृति है। स्टेस की पुस्तक 'मिस्टिसिज्म एण्ड फिलासफी' से रहस्यवाद का पूर्ण विश्लेषणात्मक पश्चिम मिलता है। बर्गसा की पुस्तक 'टू सोर्सेज ऑफ मॉरेलिरी एण्ड रिलीजन' से उनके

रहस्यवादी विचार प्रकट होते हैं। वास्तविक ज्ञान अनुभव से प्राप्त होता है बुद्धि से नहीं। क्योंकि बुद्धि आन्तरिक रहस्य को जानने में असमर्थ है। बर्गसा ने रहस्यवाद का निरूपण दो प्रकार से किया हैं—पूर्ण रहस्यवाद और अपूर्ण रहस्यवाद। पूर्ण रहस्यवाद में सक्रियता, सर्जनशीलता नया प्रेम होता है और अपूर्ण रहस्यवाद में रहस्यवादी ईश्वरीय-प्रेम और आनन्द में लीन रहता है।

रहस्यवाद का दृष्टान्त बौद्ध-दर्शन में भी प्राप्त होता है। जब हम बुद्ध की शिक्षाओं का अवलोकन करते हैं तो उसमें आचारशास्त्र, मनोविज्ञान, तर्कशास्त्र आदि प्रचुर मात्रा में पाते हैं किन्तु तत्वदर्शन का वहाँ पूर्णतः अभाव सा दीख पड़ता है। उनसे जब भी कभी दर्शनशास्त्र से संबंधित कोई प्रश्न पूछा जाता था तो वे मौन रहा करते थे। ऐसे प्रश्न निम्न हैं– (1) क्या यह विश्व शाश्वत है, (2) क्या यह विश्व अशाश्वत है, (3) क्या यह विश्व ससीम है, (4) क्या यह विश्व असीम है, (5) क्या आत्मा और शरीर एक है, (6) क्या आत्मा शरीर से भिन्न है, (7) क्या मृत्यु के बाद तथागत का पुनर्जन्म होता है, (8) क्या मृत्यु के बाद तथागत का पुनर्जन्म नहीं होता, (9) क्या तथागत का पुनर्जन्म होना और न होना दोनों ही बातें सत्य हैं (10) क्या तथागत का पुनर्जन्म होना और न होना दोनों ही बातें असत्य हैं।

उपरोक्त दस प्रश्नों को अव्याकृत कहा जाता है। इन प्रश्नों के उत्तर के संबंध में बुद्ध के मौन रहने का भिन्न-भिन्न अर्थ आलोचकों ने बताए। कुछ लोगों का मत है कि बुद्ध तत्वशास्त्रीय प्रश्नों में निरुतर थे। अतः उनका मौन रहना उनके अज्ञान का द्योतक है। किन्तु बुद्ध पर यह आक्षेप लगाना ठीक नहीं है। यदि वे तत्वशास्त्रीय प्रश्नों का उत्तर नहीं जानते

तब वे बुद्ध की संज्ञा से ही विभूषित क्यों होते क्योंकि बुद्ध का अर्थ तो ज्ञानी होता है।

कुछ लोगों ने बुद्ध के मौन रहने का अर्थ यह लगाया कि बुद्ध इन तत्वशास्त्रीय प्रश्नों में संशय करते थे अत: उनका मौन रहना उनके संशयवाद की स्वीकृति है किन्तु बुद्ध को संशयवादी नहीं कहा जाता। वे सर्वज्ञानी थे। उन्हें मानव ज्ञान की सीमायें पता थी उनको इस बात का आभास था कि तत्वशास्त्र संबंधी प्रश्नों के जितने भी उत्तर दिये गए हैं उनमें परस्पर विरोध है, ठीक वैसे ही जैसे अन्धे स्पर्श के द्वारा जब हाथी के स्वरूप का वर्णन करते हैं। तब उनका वर्णन विरोधात्मक एवं भिन्न-भिन्न होता है। जिस प्रकार अन्धे हाथी का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ हैं ऊसी प्रकार मानव आत्मा, ईश्वर और जगत जैसे विषयों का पूर्ण ज्ञान पाने में असमर्थ है। अत: तत्वशास्त्र मानव ज्ञान की सीमा से परे अवर्णनीय है।

बुद्ध के निर्वाण संबंधी मत में भी रहस्यवाद का पुट दृष्टिगोचर होता है। बौद्ध धर्म के प्रमुख धर्मोपदेशक नागसेन ने यूनान के राजा मिलिन्द के सम्मुख निर्वाण की व्याख्या उपमाओं से की है। निर्वाण को उन्होंने सागर की तरह गहरा, पर्वत की तरह ऊँचा और मधु की तरह मधुर कहा है। इसके साथ ही उन्होंने यह भी कहा है कि निर्वाण के स्वरूप का ज्ञान उसे ही हो सकता है जिसने इसकी अनुभूति प्राप्त की है। जिस प्रकार अन्धे को रंग का ज्ञान कराना संभव नहीं है उसी प्रकार जिसे निर्वाण की अनुभूति अप्राप्त है, उसे निर्वाण का ज्ञान प्राप्त कराना असंभव है।

माध्यमिकों के अनुसार निर्वाण चतुष्कोटिविनिर्मुक्त है। यदि निर्वाण को भावरूप माना जाए तो अन्य भावों के समान वह भी जन्म-मरणशील और संस्कृत धर्म बन जाएगा। यदि

उसे अभाव रूप माना जाए तो उसकी स्वतंत्र सत्ता नहीं होगी। उसे भावाभावरूप मानना भी असंगत है क्योंकि प्रकाश और अंधकार के समान भाव और अभाव एक साथ नहीं रह सकते। यदि निर्वाण को भावाभाव भिन्न माना जाए तो निर्वाण का ज्ञान नहीं हो सकता। निर्वाण तो निरपेक्ष अद्वैत तत्व है। इस निरपेक्ष तत्व का निरुपण निषेधात्मक पदों से उपनिषद के 'नेति-नेति' के समान किया जाता है किन्तु इससे तत्व के निर्वचन का ही निषेध होता है, स्वयं तत्व का नहीं। अपरोक्षानुभूति द्वारा ही इसका साक्षात् किया जा सकता है।

पंडित शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में भी रहस्यवाद का पुट देखने को मिलता है। अद्वैत वेदान्त का केन्द्रगत सम्प्रत्यय आत्मा का ब्रह्म है। आत्मा या ब्रह्म को प्रमाणों का विषय नहीं माना जाता और न ही ज्ञान का विषय। आत्मा की स्वयंसिद्धता अद्वैत वेदान्त की भारतीय दर्शन को महत्वपूर्ण देन है। आत्मा कभी विषय या दृश्य नहीं बनता। आत्मा का ज्ञान अपरोक्षानुभूति द्वारा होता है जो अवर्णनीय है।

(ड.) रहस्यवाद की आलोचना:

रहस्यवाद के विरुद्ध कुछ आक्षेप भी लगाए जाते हैं। रहस्यवाद के विरुद्ध यह कहा जाता है कि यह प्रगतिशीलता का विरोधी है तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण का भी विरोध करता है। यह तार्किकता से परे और आत्मविरोधी उक्तियों से परिपूर्ण है। रहस्यवाद में वस्तुनिष्ठता का अभाव है तथा यह संशयवाद और अज्ञेयवाद को प्रश्रय देता है। रहस्यवाद में अकथनीयता होने के कारण स्पष्टता नहीं है इसलिए कभी-कभी इसमें चमत्कार की प्रबलता भी देखी जाती है और वह जादू तथा अंधविश्वास की प्रधानता से

अनेक असंगत विचारों को जन्म देता है।

रहस्यवाद अनुभूति की गहराई है, इस स्थिति में कुछ उन्माद की अवस्था भी उत्पन्न हो जाती है। इसलिए कुछ आलोचकों का कहना है कि यह विकृत मस्तिष्क का परिणाम है। कुछ असामान्य व्यक्ति ही इस अवस्था को प्राप्त कर सकते हैं।

रहस्यात्मक अनुभूति को अनिर्वचनीय समझा जाता है। वचन के द्वारा भाव की पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। यदि यह वाणी का विषय नहीं तो यह शब्द और सिद्धान्त का रूप धारण नहीं कर सकता। अनिर्वचनीय अनुभव सर्वमान्य सिद्धान्त नहीं हो सकता।

रहस्यवाद को अबौद्धिक समझा जाता है। रहस्य बुद्धि के परे हुआ करता है। बुद्धिवादियों का कहना है कि जो बुद्धि से परे है वह विश्वास का विषय नहीं बन सकता। रहस्यवाद का बुद्धि का निषेध करता है इसी कारण हेगल रहस्यवाद को दर्शन का निषेध कहते हैं।

रहस्यवाद का संबंध भावनाओं से है। भावनाएँ आत्मगत होती है, वस्तुगत नहीं। यही कारण है कि रहस्यवाद को एक आत्मनिष्ठ अनुभूति के रूप में स्वीकार किया जाता है। परन्तु इस अनुभूति में तो वस्तुनिष्ठता का पूर्ण अभाव रहता है। वस्तुनिष्ठ न होने के कारण इनकी प्रमाणिकता का संदेह बना ही रहता है क्योंकि आत्मगत भावनाओं की परीक्षा करना संभव नहीं है।

रहस्यात्मक अनुभूति निष्क्रियता उत्पन्न करती है। रहस्य का अनुभव करते समय साधक की इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं। रहस्य को प्राप्त करने के पश्चात सामाजिक जीवन में उस व्यक्ति की कोई रुचि नहीं रह जाती है। अत: आलोचक इसे अकर्मणीयता की स्थिति मानते हैं। यह पलायनवादी प्रवृत्ति है जो जीवन की सच्चाई का सामना नहीं कर

सकते, वे ही रहस्यवाद की छाँह में विश्राम करना चाहते हैं।

रहस्यवाद की वजह से समाज में असंगत धारणाओं का जन्म होता है ऐसा आलोचकगण मानते हैं। रहस्यवादी दिव्य दृष्टि की बातें बताकर लोगों में अन्धविश्वास उत्पन्न करते हैं जिसकी वजह से जादू-टोना आदि असंगत धारणाओं को भी बल मिलता है। इस प्रकार आलोचक रहस्यवाद को मानो विवेक का शत्रु कहते हैं।

कुछ आलोचकों का मानना है कि रहस्यानुभूति में हमें यथार्थ ज्ञान प्राप्त नहीं होता। इसके बारे में रहस्यवादियों को न तो स्वयं कोई स्पष्ट ज्ञान है और न ही वह दूसरों को इसका ज्ञान करा सकते हैं। इसका वर्णन अनेक विरोधाभासों से युक्त रहता है।

रहस्यवादियों के अनुसार रहस्यानुभूति अनिर्वचनीय एवं अवर्णनीय होती है। इसमें सत्य की अपरोक्ष अनुभूति होती है। यह अनुभूति संदेह रहित, निश्चित एवं स्वयं सिद्ध होती है। यद्यपि रहस्यानुभूति और आस्था में प्राय: अन्तर माना जाता है परन्तु यह निश्चय करना कठिन है कि कहाँ आस्था का अंत होता है और कहाँ से रहस्यानुभूति की शुरुआत होती है। रहस्यानुभूति में जो प्राप्त ज्ञान होता है वह सामान्य ज्ञान से भिन्न होता है। जॉन बनर्वी के मत में यह ऐसा ज्ञान है जो ज्ञाता को एकपक्षीय प्राप्त नहीं हो सकता क्योंकि यह मूलत: आदान-प्रदान अथवा वार्तालाप का द्योतक है। इसमें ज्ञाता और ज्ञेय परस्पर

वार्तालाप की प्रक्रिया में सम्बद्ध होते हैं। ईश्वर का ज्ञान व्यक्ति और ईश्वर के परस्पर आदान-प्रदान का द्योतक है।[1] इसे रहस्यवादियों ने प्रेम एवं बंधुत्व की अनुभूतियों के उपमान द्वारा व्यक्त किया है। सामान्य प्रेम तथा बंधुत्व की अनुभूति के आधार पर हम रहस्यानुभूति की कल्पना कर सकते हैं। साधारण धार्मिक विश्वास से रहस्यानुभूति उसी प्रकार भिन्न है जिस प्रकार वास्तविक प्रेम की अनुभूति से काल्पनिक प्रेम भिन्न है।

रहस्यानुभूति की तुलना उन गहरे मित्रों के वार्तालाप से की जा सकती है जिनमें परस्पर पूर्ण तादात्म्य है। प्राय: ऐसे अवसरों पर किसी शब्द आदि की अपेक्षा केवल शान्ति और मौन एकता के माध्यम से वार्तालाप करते हैं। शारीरिक आकृति, वातावरण, शब्द आदि की अपेक्षा उनका सम्पूर्ण ध्यान एक-दूसरे की आत्मा मन और आन्तरिक व्यक्तित्व पर केन्द्रित रहता है। रहस्यवादी भी ईश्वर के साथ इसी प्रकार का मौन सम्पर्क स्थापित करते हैं। भौतिक वातावरण की अपेक्षा रहस्यवाद में आन्तरिक चेतना एवं रहस्यानुभूति अधिक महत्वपूर्ण होती है। यह दिव्य दृष्टि या प्रज्ञा का द्योतक है। कुछ विचारक रहस्यवाद को ऐसी चेष्टा अथवा अवस्था मानते हैं जिसमें आध्यात्मिक शक्ति की उपस्थिति तथा व्यक्तिगत और सामाजिक मूल्यों की सुरक्षा प्राप्त की जाती है। ईश्वरवादी धर्मों में रहस्यानुभूति का लक्ष्य ईश्वर की उपस्थिति का संवर्द्धन है।

अनेक आलोचक मानते हैं कि रहस्यवाद प्राय: संदेहवाद और अज्ञेयवाद को जन्म देता है। रहस्यवादी अनुभूति अस्पष्ट एवं अकथनीय होती है। इसके परिणामस्वरूप रहस्यवाद में अबौद्धिकता व्याप्त रहती है। हेगल के मत में रहस्यवाद दर्शन के निषेध

तथा बुद्धि के बहिष्कार का प्रतीक है। रहस्यवाद में अस्पष्टता का साम्राज्य है इसमें विरोधाभासों तथा असंगतियों की भरमार है। चूंकि रहस्यवाद में निहित अज्ञेयवादी तत्व हम शून्यवाद की ओर ले जाता है इसलिए कई आलोचक इसे व्यर्थ मानते हैं।

निःसंदेह रहस्यवादी अनुभूति अकथनीय एवं अनिर्वचनीय होती है। इसलिए इसके स्वरूप का वर्णन करते समय विरोधाभासों का आश्रय लेना पड़ता है। यह रहस्यानुभूति की विलक्षणता तथा अलौकिकता के कारण होता है। इसको व्यक्त करने में भाषा समर्थ नहीं है। जिस प्रकार एक गूंगा व्यक्ति स्वाद के अनुभव को भाषा द्वारा व्यक्त नहीं कर सकता उसी प्रकार रहस्यवादी भी इस अनोखी अनुभूति का वर्णन नहीं कर सकता। रहस्यानुभूति एक अतिबौद्धिक अनुभूति है अतः इसे बौद्धिक परिवेश में प्रस्तुत करना संभव नहीं है। उपनिषदों के अनुसार इस अतिबौद्धिक अनुभूति को पाने में मन और वाणी असफल होते हैं। रहीम के अनुसार अगम्य के बारे में कोई कथन समुचित नहीं है। अकथनीयता के विरुद्ध यह आपत्ति उठाई जाती है कि यदि रहस्यानुभूति स्वरूपतः अकथनीय है तो उसका वर्णन कैसे हो सकता है। अकथनीय कथन संभव नहीं है। किन्तु यह आपत्ति भी निराधार है। रहस्यानुभूति में समस्त विरोध एवं द्वैत समाप्त हो जाते हैं तथापि पूर्ण अद्वैत की अनुभूति का भावपरक वर्णन संभव नहीं है। इसका निषेधात्मक वर्णन अवश्य हो सकता है। इसे अकथनीय कहना भी वास्तव में इसके बारे में कथन करना है।

कई रहस्यवादी भाषा आदि के द्वारा इसका वर्णन करने की चेष्टा करते हैं यद्यपि वे इसके स्वरूप का पूर्ण वर्णन नहीं कर सकते, परन्तु इसके बारे में संकेत अवश्य कर सकते हैं। लौकिक भाषा के द्वारा इस अलौकिक अनुभूति का वर्णन करना संभव नहीं है।

इस कठिनाई को स्वीकार करते हुए भी कई रहस्यवादी रहस्यानुभूति का वर्णन करते हैं। फलस्वरूप रहस्यवादी साहित्य में ऐसे कई कथन पाये जाते हैं जो विरोधाभासों से परिपूर्ण रहते हैं।

रहस्यवादी साहित्य विरोधी उक्तियों से भरा पड़ा है। इसमें निरपेक्ष तत्व को एक ओर शून्यातिशून्य तथा दूसरी ओर पूर्ण एवं व्यापक कहा गया है। आत्मत्याग के द्वारा आत्मप्राप्ति, इच्छाओं के त्याग से इच्छाओं की पूर्ति तथा वैराग्य के द्वारा जीवन की समृद्धि प्राप्त करने का उल्लेख भी इसमें मिलता है। रहस्यवादी प्राय: यह कहने लगता है 'मैं हूँ' और 'मैं नहीं हूँ'। कबीर भी इसी ओर संकेत करते हैं– सीस उतारै भुई धरै, तब पैठे घर माहिं। चकाचौंध करने वाला धुंधलापन, फुसफुसाहट पूर्ण मौन, भरपूर मरुस्थल जैसी उक्तियों से रहस्यवादी साहित्य भरा पड़ा है। इन उक्तियों के प्रयोग से यह सिद्ध होता है कि रहस्यानुभूति के वर्णन में बौद्धिक अथवा तार्किक भाषा की अपेक्षा संगीतयुक्त भावना ही अधिक उपयुक्त है। कलात्मक भाषा के द्वारा ही अकथनीय का कथनीय संभव है। इसलिए अनेक रहस्यवादी कृतियों को वास्तव में काव्य एवं संगीत माना जाता है। यह ज्ञान बौद्धिक नहीं होता।

रहस्यानुभूति के आधार पर प्राय: रहस्यवादी कई सत्य संबंधी दावे प्रस्तुत करते हैं। परन्तु कई आलोचकों के अनुसार रहस्यानुभूति का वास्तविकता से कोई संबंध नहीं है। सत्य अथवा वास्तविकता के अपेक्षा यह आत्मनिष्ठता का द्योतक है। किसी वस्तु अथवा विचार पर निरन्तर ध्यान अथवा आत्म सुझाव के द्वारा व्यक्ति को रहस्यानुभूति प्राप्त होने

लगती है। आँखों को किसी प्रकाशित वस्तु की ओर कुछ समय केन्द्रित करने पर हमें रहस्यवादियों की मानसिक दशा का पता लग सकता है। वस्तुतः सभी रहस्यवादी अनुभूतियाँ आत्म-विभ्रम मात्र हैं। योग, ध्यान, आत्मसुझाव आदि के निरन्तर अभ्यास से व्यक्ति अपनी चित्त-वृतियों को एकाग्र करते हुए स्वयं को यह विश्वास दिलाता रहता है कि उसे ईश्वर का सामीप्य प्राप्त हो रहा है। अंत में उसकी बुद्धि और मन से सभी विकल्प समाप्त हो जाते हैं और आत्मनिष्ठ यौगिक अनुभूति प्रकट होती है। यह आपत्ति सभी धार्मिक अनुभूतियों के बारे में उठाई जाती है। फ्रायडवादियों के अनुसार रहस्यानुभूति इच्छा-तृप्ति की भावना की परिचायक है। जिस तरह मरुस्थल में प्यासा व्यक्ति जलते हुए बालू के कणों को पानी समझ लेता है, उसी प्रकार निरन्तर आत्मसुझाव के फलस्वरूप रहस्यवादी अपनी कल्पना को सत्य समझ लेता है।

प्रत्येक रहस्यानुभूति आत्मनिष्ठ नहीं होती। यद्यपि इसमें सुझाव और प्रेरणा महत्वपूर्ण स्थान रखती है तथापि इसे केवल आत्मनिष्ठ नहीं माना जा सकता। इसकी वस्तुनिष्ठता के पक्ष में तीन तथ्य उल्लेखनीय हैं। प्रथम, रहस्यानुभूति की अवस्था में योगी जो भविष्यवाणी करता है वे प्रायः सत्य सिद्ध होती हैं। दूसरे, रहस्य योगी अनेक अद्भुत कार्य करता है। असाध्य रोगों से मुक्ति प्रदान करता है, मृतकों में चेतना उत्पन्न करता है। अद्भुत वस्तुओं एवं घटनाओं की सृष्टि जैसे कार्य आत्मनिष्ठता के सूचक नहीं हो सकते। तीसरे, रहस्यानुभूति के फलस्वरूप योगी के जीवन में परिवर्तन होते हैं, वे भी इस अनुभूति की वस्तुनिष्ठता को प्रकट करते हैं जिसके फलस्वरूप योगी का सम्पूर्ण जीवन बदल जाता है। रहस्यवादी पद्धति से प्राप्त सत्य संबंधी ज्ञान कई प्रकार का होता है, जैसे-

भविष्य का ज्ञान, आन्तरिक विचारों, भावों तथा गुप्त तथ्यों का ज्ञान। इसमें सत्य का अपरोक्ष ज्ञान होता है।

कुछ विचारकों के अनुसार रहस्यानुभूति मनोविकार अथवा विकृत मस्तिष्क की परिचायक है। कुछ मनोवैज्ञानिक रहस्यानुभूति को आत्मप्रेरित अथवा कल्पित सम्मोहन मानते हैं। बौद्धिक स्तर पर ये अनुभूतियाँ अंधविश्वास आडम्बर और रूढ़िवादिता को तथा व्याक्तिगत स्तर पर मानसिक विघटन, हिस्टीरिया आदि को जन्म देती है। अनेक विद्यार्थियों के ऊपर प्रयोग करने से पता चला है कि धार्मिक अनुभूति प्राप्त करने वाले विद्यार्थी अपेक्षाकृत मंद बुद्धि के होते हैं।

ऐसी सभी आपत्तियाँ रहस्यवाद के वास्तविक स्वरूप की अनभिज्ञता पर आधारित हैं क्योंकि इनके आधार का मूल्यांकन नहीं हो सकता। रहस्यानुभूति को असामान्य मान लेने पर उसके द्वारा प्रदान मूल्यों का प्रभाव कम नहीं होता। रहस्यानुभूति का मूल्यांकन करने में विज्ञान समर्थ नहीं हो सकता।

यदि रहस्यवादी मानसिक अवस्था या मंदबुद्धि से पीड़ित हैं तो उन्हें समाज के अग्रज तथा पथ-प्रदर्शक नहीं होना चाहिए। अधिकांश रहस्यवादी समाज सुधारक और संगठनकर्ता हुए हैं। तीव्र बुद्धि एवं प्रतिभा तथा नैतिक बौद्धिक एवं सामाजिक गुणों से परिपूर्ण रहे हैं। जैसे– शंकर, मुहम्मद, रामकृष्ण एवं विवेकानन्द आदि।

यह आक्षेप भी निराधार है कि रहस्यवाद अकर्मठता, असामाजिकता अथवा प्रतिक्रियावाद को प्रोत्साहन देता है। रहस्यवादी प्रगति विरोधी नहीं होते। यद्यपि कई योगी निष्क्रिय एवं

अकर्मण्य प्रतीत होते हैं तथापि इसे सामान्य नियम नहीं माना जा सकता। विश्व के प्रति वैराग्य की प्रवृत्ति अथवा 'उस पार' की भावना रहस्यानुभूति में प्राय: तीव्र होने लगती है। इसके परिणामस्वरूप जो योगी स्वभाव से कर्म में रुचि नहीं रखते वे व्यावहारिक जीवन से विमुख हो जाते हैं और मृत्यु के पूर्व ही समाप्त हो जाते हैं। भारत में वाल्मीकि जैसे योगियों के दृष्टान्त मिलते हैं जिनका शरीर कीटाणुओं का निवास बन गया था। इसके विपरीत ऐसे योगियों के उदाहरण भी पाये जाते थे जो सामाजिक कल्याण में रुचि लेते थे। ऐसे योगी स्वभाव से अधिक सक्रिय और कर्मठ होते है तथा अपने जीवन से समाज को महान शक्ति और प्रेरणा देते हैं। गौतम बुद्ध, आचार्य शंकर ऐसे ही योगियों में से एक थे।

आध्यात्मिक रहस्यवाद के अतिरिक्त ऐसी कई रहस्यवादी अनुभूतियाँ भी होती हैं जिन्हें अस्वस्थ और अनुचित माना जा सकता है। इनमें तुच्छ और निम्न तथ्यों को अधिक महत्व प्रदान किया जाता है और ग्रंथों और शब्दों को भी नवीन अर्थ में ग्रहण किया जाता है। इनमें कई ध्वनियाँ, दृश्य आदि प्राप्त होते हैं और पराशक्ति के प्रबल होने का बोध होता है। प्रारम्भिक रूप में दोनों रहस्यानुभूतियाँ एक जैसी अवस्था से उत्पन्न होती हैं। दोनों ही अवचेतन से संबंधित हैं।

धार्मिक एवं धर्मनिरपेक्ष, स्वस्थ एवं विकृत, सामान्य एवं असामान्य रहस्यानुभूतियों में अन्तर हम रहस्यवादी जीवन के निरीक्षण से कर सकते हैं। स्वस्थ एवं सामान्य अनुभूति के फलस्वरूप व्यक्ति के जीवन में स्वस्थ परिवर्तन होता है तथा उसे अनेक सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। इससे उसे नैतिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से भी लाभ होता है और

उसमें उत्साह, आशा, चारित्रिक, दृढ़ता, दर्शनकारिता आदि का विकास होता है। इसके विपरीत जो रहस्यानुभूति व्यक्ति को अनैतिकता, असामाजिकता एवं आचरण की ओर ले जाती है वह असामान्य और विकृत है। इसके फलस्वरूप निराशा, भय, कुंठा एवं असामाजिकता का विकास होता है। विकृत रहस्यवाद की अपेक्षा स्वस्थ रहस्यवादी शारीरिक नैतिक व्यक्तिगत एवं सामाजिक प्रगति में अत्यधिक उपयोगी सिद्ध होता हो किन्तु तीव्र रहस्यानुभूति एवं दृढ़ समाधि के बारे में यह नहीं कहा जा सकता। रहस्यानुभूति के द्वारा योगियों को आन्तरिक सूझ प्राप्त होती है जिससे अनेक रहस्य सुलझ सकते हैं।

रहस्यवाद के विरुद्ध एक आपत्ति यह भी उठाई जाती है कि रहस्यानुभूति के स्वरूप के बारे में रहस्यवादियों में एकमत नहीं पाया जाता। कुछ रहस्यवादी घोर सन्यासवाद के समर्थक होते हैं किन्तु कुछ योग एवं सांसारिकता को ही योग मानते हैं। अनेक विरोधी मान्यताएँ रहस्यवादियों में सदैव प्रचलित रहती हैं।

रहस्यानुभूति किसी सिद्धान्त विशेष तक सीमित नहीं हो सकती, यह एक अनूठी एवं अवर्णनीय अनुभूति है। परम्परा एवं वातावरण के भिन्नता के अनुसार इसके वर्णन में भेद होना स्वाभाविक है। भाषा में जब अकथनीयता का कथन होता है तो उसमें कमियाँ होना स्वाभाविक है। परम्परा एवं प्रवृत्ति की भिन्नता से योगियों का व्यवहार भी भिन्न-भिन्न होता है। इसीलिए कबीर के मत में रहस्यवादियों का कोई निश्चित संगठन नहीं होता।

रहस्यानुभूति के द्वारा धर्म एवं धार्मिक व्यक्तियों को निरन्तर प्रेरणा मिलती है तथा

आध्यात्मिक मूल्यों की यथार्थता में विश्वास दृढ़ होता है। इसकी अनुपस्थिति में धर्म में रूढ़िवादिता, आडम्बरवाद आदि पनपने लगते हैं। रहस्यानुभूति से धार्मिक मान्यताएँ प्रमाणित होती हैं। रहस्यवाद धर्म की वह प्रयोगशाला है जिसमें धार्मिक विश्वास अनुभव एवं व्यवहार के विषय बनते हैं। इसके बिना धर्म केवल कल्पना मात्र प्रतीत होगा।

उपरोक्त सभी आक्षेपों का उत्तर रहस्यवादी दार्शनिकों ने सप्रमाण प्रस्तुत किया है। वे अपने रहस्यवाद को इतना प्रभावकारी मानते हैं कि विश्व की सम्पूर्ण दर्शन विधि को आत्मसात करने का दावा प्रस्तुत करते हैं। दार्शनिक रहस्यवाद को धर्म का सारतत्व ही मानते हैं। यही कारण है कि संसार में धर्मों के संस्थापक रहस्यवादी ही होते हैं। रहस्यवादी ही परमतत्व का साक्षात् अनुभव करता है। यह अनुभव शब्दों के परे है। यह एक ऐसा ज्ञान है जिसकी गहराई व्यवहार में है। यही कारण है कि इसे अकथनीय अनुभव भी कहते हैं। इस अनुभव के बिना धर्म अपने अन्तिम लक्ष्य तक नहीं पहुँच सकता। धर्म में ज्ञानात्मक, भावनात्मक एवं क्रियात्मक तीनों तत्व विद्यमान रहते हैं। यही स्थिति रहस्यवाद की भी है। इसी के कारण धर्म की रक्षा होती है तथा धर्म पल्लिवित और पुष्पित होता है। रहस्यवाद के बगैर धर्म निर्जीव और गतिहीन हो जायेगा।

अतः रहस्यवाद को ही धर्म के रूप में देखने का प्रयास करते हैं तो केवल इसी रूप में कि यह मानव के मौलिक एवं स्वभाविक धर्म का प्रतिनिधित्व करता है परन्तु इसे उस रूप में नहीं स्वीकार कर सकते जो धर्म, पंथ, मज़हब या सम्प्रदाय विशेष का स्वरूप ग्रहण करता है। क्योंकि इनमें ऐसे तत्व सन्निहित होते हैं जिनका संबंध रहस्यवाद से

बिल्कुल नहीं है जैसे कि कर्मकाण्ड, सृष्टिशास्त्र, ईश्वरीयशास्त्र आदि ऐसे अंग हैं जो रहस्यवाद के लिए महत्वहीन हैं। अत: धर्म और रहस्यवाद दोनों में ही आन्तरिक अनुभूतियों को ही महत्व प्रदान किया जाता है। इसलिए धार्मिक जीवन को रहस्यात्मक जीवन की ही मान्यता प्रदान की जाती है। इसलिए रहस्यवाद और धर्म अलग नहीं कहे जा सकते । अत: स्पष्ट है कि रहस्यवाद धर्म और दर्शन की उत्कर्ष अवस्था एवं जीवन की चरम परिपूर्णता है।

•••••••••

तृतीय अध्याय

तीय अध्याय

(क) उपनिषद एवं रहस्यवाद :

उपनिषद को भारतीय दर्शनों का मूल स्रोत माना जाता है। उपनिषदों में रहस्यवाद के बीच अन्तर्निहित हैं इसलिए उपनिषदों को रहस्य विद्या या गुह्य विद्या भी कहा जाता है। उपनिषदों में उस रहस्य का उदघाटन किया गया है जिसके द्वारा जिज्ञासु अविज्ञा का नाश करके संसारिक बन्धनों से मुक्त होकर परम पद अर्थात मोक्ष को प्राप्त करता है। उपनिषदों के रचयिता तत्व दृष्टा ऋषि थे। उपनिषदों की संज्ञा एक सौ आठ मानी गयी है किन्तु प्रमाणिक तथा उपयुक्त उपनिषद ग्यारह हैं। इन ग्यारह उपनिषदों अर्थात ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, वृहदारण्यक और श्वेताश्वर पर शंकर के भाष्य भी उपलब्ध हैं।

उपनिषदों के काल अथवा उनके रचनाक्रम के विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता तथापि प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कुछ उपनिषद की रचना परवर्ती काल में हुई है तथा जो उपनिषद सर्वाधिक प्राचीन हैं जैसे छांदोग्य, वृहदारण्यक, केन, ऐतरेय, तैत्तरीय, कठ एवं कौषीतिकी इनकी रचना गौतम बुद्ध के पूर्व हुई है। इस आधार पर इन्हें हम ऐसा पूर्व छठीं शताब्दी से पूर्व का मान सकते हैं। इसके अतिरिक्त शेष उपनिषदों की रचना गौतम बुद्ध के बाद किन्तु ईसा की तीसरी शताब्दी से पूर्व किसी समय हुई होगी।

कालक्रम एवं संख्या की व्याख्या के पश्चात् उपनिषदों का प्रतिपाद्य विषय और शैली के बारे में ज्ञान प्राप्त करना अपेक्षित होगा। उपनिषदों का प्रतिपाद्य विषय अद्वैत तत्व है। श्वेताश्वेतर उपनिषद के प्रारम्भ में ही इस प्रकार के कथन मिलते हैं जैसे कि– ब्रह्म का स्वरूप क्या है ? हमारा आधार क्या है ? हम किससे प्रेरित या प्रभावित होकर इस संसार में प्रवृत्त होते हैं ? आदि। उपनिषदों में ऐसे बहुत से प्रसंग आये हैं जहाँ गुरु के पास शिष्य जाकर परमतत्व के ज्ञान की इच्छा प्रकट करता है। वृहदारण्यक उंपनिषद में बताया गया है कि उशस्त याज्ञवल्क्य के पास जाकर पूछते हैं कि "मुझे वह समझाओ जो ब्रह्म है, जो विद्यमान है और हमसे परे नहीं है।"[1] इसी प्रकार की जिज्ञासा केनोपनिषद में भी दृष्टिगोचर होती है। कठोपनिषद में तो ऐसे कई प्रश्न हैं जिसमें नचिकेता ने यम से तीन वर के बदले आत्मा एवं ब्रह्म विषयक सम्पूर्ण ज्ञान की अभिलाषा प्रकट की है। इस संबंध में रान डे का कथन है "मनुष्य परमतत्व को जानने की इच्छा पूर्णतः तृप्त नहीं कर सका। इससे उन आधारभूत समस्याओं के समाधान की आवश्यकता बनी रही कि सत्य क्या है ? आत्मा क्या है ? इन समस्याओं का हल खोजते हुए उपनिषदों के दार्शनिक तत्वमीमांसा पर विचार करने के लिए उद्यत हुए।"[2] उपनिषदों में वह क्या है जिसे जान लेने पर सब कुछ स्वतः प्राप्त हो जाता है इस प्रश्न का उत्तर प्राप्त करने हेतु सृष्टिशास्त्र की खोज की गयी किन्तु इस प्रश्न का संतोषजनक हल न मिल पाने के कारण मनोवैज्ञानिक जगत में उसे खोजने का प्रयत्न किया गया। किन्तु पुनः संतुष्टि प्राप्त न होने

---

(1) वृहदारण्कोपनिषद, 5/2/1 ।

(2) ले० प्रो० रानडे एवं अनु० रामानन्द तिवारी : उपनिषदों का रचनात्मक सर्वेक्षण, पृ० सं०-64, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ एकाडमी, जयपुर, 1971 ।

पर परतत्व शास्त्र का आश्रय लिया गया है और जब कोई प्रज्ञात्मक उत्तर मिल जाता था तो फिर अगला प्रश्न यह उठता था कि व्यावहारिक रूप से वह ज्ञान कैसे प्राप्त किया जाये ? आचार का क्या आदर्श हो सकता है, जिसके अनुशीलन द्वारा परमात्मा का साक्षात्कार प्राप्त कर सके। इस व्यावहारिक प्रयास रहस्यवाद में मिलता है। जैसा कि रानाडे के इस कथन से स्पष्ट होता है "उपनिषदीय दर्शन का चर्मोत्कर्ष रहस्यवाद ही है जैसा कि यह सभी दर्शनों का चरम है और जो यह नहीं समझता कि उपनिषदों का सृष्टिशास्त्र, मनोविज्ञान, परतत्वशास्त्र एवं आचारशास्त्र आदि सब उसके रहस्यवादी सिद्धान्त के उद्घोष मात्र हैं, वे उपनिषदीय तत्व ज्ञान का रहस्य समझने में असमर्थ हैं।"[1]

उपनिषदों में सृष्टि की उत्पत्ति के संबंध में मूल तत्व को जल बताया गया है। वृदारण्यक उपनिषद में बताया गया है कि– "वस्तुतः सृष्टि के आदि में केवल जल की ही सत्ता थी। जल से सत्य का उद्भव हुआ। सत्य से ब्रह्म का उदय हुआ। ब्रह्म से प्रजापति की उत्पत्ति हुई। प्रजापति से देवताओं की सृष्टि हुई। ये देवता केवल सत्य की उपासना करते हैं।[2] उपर्युक्त कथन से स्पष्ट होता है कि सृष्टि के प्रारम्भ में जल की ही सत्ता थी। आत्मा ईश्वर आदि की नहीं। जल से ही सम्पूर्ण वस्तुओं की उत्पत्ति हुई। यह मत ग्रीक दार्शनिक थेलीज के सिद्धान्त से मिलता-जुलता है क्योंकि थेलीज ने जल को ही सृष्टि का आदि कारण माना था।

(1 ले० प्रो० रानडे एवं अनु० रामानन्द तिवारी, उपनिषदों का रचनात्मक सर्वेक्षण, पृ० सं०-50, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ एकाडमी, जयपुर, 1971 ।

(2) वृहदारण्कोपनिषद, 5/5/1 ।

उपनिषद में वायु को भी मूलतत्व के रूप में ग्रहण किया गया है। वायु को उपनिषद में मूलतत्व को ग्रहण करने का श्रेय रैक्व हो जाता है। यह मत ग्रीक दर्शन के आधुनिक मत के समर्थक अलैक्जेण्डर से मिलता है क्योंकि इन्होंने भी वायु को ही मूलतत्व माना था।

फिर वायु के पश्चात् अग्नि को मूलतत्व के रूप में एक बार कठोपनिषद में प्रयुक्त किया गया है। इस तथ्य का रहस्योद्घाटन करने का श्रेय रानडे को है। कठोपनिषद में कहा गया है कि अग्नि ने विश्व में अन्त: प्रवेश करके विविध स्वरूप धारण कर लिया है।"[1] छांदोग्य उपनिषद में भी आदि पुरुष से अग्नि का उद्भव, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी का दृष्टान्त मिलता है।[2] ग्रीक दार्शनिक हेराक्लाइटस में भी अग्नि को मूल तत्व के रूप में स्वीकार किया गया है। किन्तु जहाँ छांदोग्य उपनिषद में अग्नि को आदि पुरुष से उत्पन्न माना गया है वहीं हेराक्लाइटस अग्नि को किसी से उत्पन्न नहीं मानते क्योंकि अग्नि स्वयं ही सम्पूर्ण पदार्थों का मूल तत्व है।

जल, वायु और अग्नि के पश्चात् उपनिषदों में आकाश से सृष्टि की उत्पत्ति बतायी गयी जो पूर्ववर्ती तीन तत्वों की अपेक्षा श्रेष्ठतर चरम तत्व माना गया है।

उपनिषदों में मूलतत्व के सन्दर्भ में असत् और सत् की भी चर्चा की गयी है। तैत्तरीय उपनिषद में कहा गया है कि "सम्पूर्ण वस्तु के आदि में असत् की ही सत्ता थी इससे सत् का उद्भव हुआ। सत् ने स्वत: अपना रूप विधान किया। इसलिए इसे स्वकृत और सुकृत भी कहा जाता है।[3]"

---

(1) कठोपनिषद, 2/5 ।

(2) छांदोग्य उपनिषद, 6/8/4 ।

(3) तैत्तरीय उपनिषद, 2/4 ।

छांदोग्य उपनिषद में सत् को भी मूलतत्व मानने का भी दृष्टान्त मिलता है। यह असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं थी वरन् एकमात्र सत् की कल्पना थी। इस आदि सत्ता ने कल्पना की कि मैं बहुरूप हो जाऊँ, मैं प्रजोत्पादन करूँ। ऐसी चिन्तना करके उसने तेज की सृष्टि की। तेज ने इच्छा की कि मैं बहुरूप हो जाऊँ, मैं प्रजोत्पादन करूँ और उसने जल की सृष्टि की।[1]''

छांदोग्य उपनिषद में प्राण को भी चरम तत्व के रूप में मानने का दृष्टान्त मिलता है। कौषीतकी उपनिषद में प्राण को स्पष्ट रूप से 'आयु' से एक रूप कर देती है और अंतत: अजर अमर आत्मा से प्राण का तादात्म्य कर दिया जाता है जिसका सत् और असत् कर्मों के कारण वृद्धि तथा क्षय नहीं होता।[2] इस प्रकार स्पष्ट होता है कि प्राणी शास्त्र के अनुसार प्राण ही आयु है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से प्राण प्रज्ञा है और परतत्व शास्त्र की दृष्टि से प्राण आत्मा है।

सृष्टि के मूलतत्व के रूप में उपनिषद में पौरुषेय विधाता के अस्तित्व को भी स्वीकार किया गया है। प्रश्नोपनिषद में विप्लाद ने बताया है कि ये ईश्वर के सृष्टि निर्माण की स्वयं की इच्छा है।[3] इसी प्रकार तैत्तरीय उपनिषद में भी बताया गया है कि स्वयं विधाता ने सृष्टि के आदि में तय किया और तय करने के उपरान्त समस्त वस्तु जगत् की रचना की।[4] इस प्रकार स्पष्ट होता है कि उपनिषदों में विधाता की कल्पना को स्थान दिया गया है।

---

(1) छांदोग्य उपनिषद, 6/2/1/4 ।
(2) वही, 1/11/5 ।
(3) प्रश्नोपनिषद, 1/3/13 ।
(4) तैत्तरीय उपनिषद, 2/6 ।

उपनिषदों में विराट पुरुष के सहयोग से आत्मा द्वारा सृष्टि विधान का उल्लेख मिलता है। एतरेयोपनिषद में बताया गया है आदि में आत्मा की ही सत्ता थी। आत्मा ने सृष्टि सृजन की इच्छा की। उसने स्वर्गोपरि, अम्मोलोक, दिव्य तेजसूपूर्ण स्वर्गलोक, मृत्युलोक और जलमय पाताललोक इन चारों लोकों की सृष्टि की। इन लोकों की सृष्टि के उपरान्त आत्मा ने प्रथम मूल तत्व आत्मा तथा विधेय विश्व के अन्तर्माध्यमिक विराट पुरुष की रचना आरम्भ की।[1] इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि किस प्रकार जीव आत्मा की अन्तिम सृष्टि है और किस प्रकार अन्तिम जीव और ब्रह्म में परतत्वमूलक तादात्म्य है।

उपनिषदों में आत्मा को विश्व सत्ता के परमतत्व के रूप में निरूपित किया गया है। उपनिषदकार आत्मा को परमात्मा मानते थे और उन्होंने जगत तथा ईश्वर को गौण स्थान दिया और अन्ततः आत्मा और ईश्वर को एकरूप करके सत्य के ईश्वरमूलक तथा मनोविज्ञानमूलक पंथों को एक कर देते हैं।

प्रश्न उठता है कि यदि आत्मचेतना परमसत्य है तो उसकी अनुभूति किस प्रकार कर सकते हैं? इस सन्दर्भ में उपनिषदकारों का कहना है कि विशुद्ध आत्मचेतना केवल एक रहस्यात्मक अनभूति की अवस्था में प्राप्त की जा सकती है। प्रज्ञा द्वारा आत्मचेतना की अनुभूति नहीं प्राप्त की जा सकती। आत्मा के स्वरूप का वर्णन भले ही "नेति-नेति" द्वारा किया गया हो किन्तु अनुभूति द्वारा इसे सर्वथा ज्ञात बताया गया है। उपनिषद में आत्मा को सनातन दृष्टा के रूप में स्वीकार किया गया है। सनातन आत्मा की सत्ता को सिद्ध करने हेतु तत्वमूलक प्रमाण दिया गया है जिसके अनुसार परमसत्य आत्मचेतना से

---

(1) एतरेयोपनिषद - 1/1-3 ।

एकरूप है। इस प्रकार आत्मचेतना को सत्ता का चरम अधिष्ठान माना गया है।

उपनिषदों में आत्मानुभव के विविध पांच सोपानों का उल्लेख किया गया है। प्रथम सोपान के अन्तर्गत वृहदारण्यक उपनिषद में कहा गया है कि यह रहस्यात्मक विधि द्वारा आत्मा के दिव्य तेज का अनुभव है।[1] द्वितीय सोपान में हमारे अन्तस में अपने को 'मैं' कहने वाले पुरुष क्रो यावदनुभूत आत्मा से अभिन्न मानना चाहिये। हमें स्वयं को ही आत्मा मानकर शारीरिक, ऐन्द्रिक, प्रज्ञात्मक अथवा भावात्मक कोश नहीं मानना चाहिये। मूलरूप में हम विशुद्ध आत्मा से अभिन्न हैं।[2] तृतीय सोपान के अन्तर्गत यह बताया गया है कि हमारी आत्मानुभूत आत्मा ब्रह्म से अभिन्न है।[3] चतुर्थ सोपान में 'त्वम' भी ब्रह्म से विनिर्गत होने के कारण उससे अभिन्न माना गया है।[4] पांचवीं सोपान में मन और प्रकृति, आत्मा और अनात्मा समान रूप से ब्रह्म हैं।[5] उपनिषद में इसे पूर्ण अद्वैत्व का स्तर बताकर इसकी स्थिति को प्रज्ञागम्य बताया गया है।

अतः उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट होता है कि यह स्थिति प्रज्ञा के बजाय रहस्यवाद से अधिक स्पष्ट होती है क्योंकि रहस्यवाद की प्रवृति स्थिति के पूर्ण ज्ञान में अधिक उपयोगी सिद्ध होती है। रहस्यवादी मार्ग साधक के लिए सुगम्य, सुस्पष्ट एवं वरेण्य है। उपनिषदों में आत्मसाक्षात्कार के रहस्यात्मक निर्देश अलग-अलग रूपों में प्राप्त होते हैं जो प्रज्ञात्मक आवरणों द्वारा आच्छादित हैं तथा जिनकी अमूल्यता को कोई विशिष्ट ज्ञाता ही समझ सकता है। बौद्धिक साधना किसी प्रकार भी सत्य का साक्षात्कार नहीं कर सकती

---

(1) वृहदारण्यकोपनिषद, 2/3/5 ।
(2) ले० प्रो० रानाडे अनु० रामानन्द तिवारी : उपनिषदों का रचनात्मक सर्वेक्षण, पृ०सं० 185 ।
(3) वृहदारण्यकोपनिषद, 2/5/19 ।
(4) छांदोग्य उपनिषद, 6/8/7 ।
(5) वही, 3/14/1 ।

क्योंकि वह तर्कनिष्ठ है।

आत्मज्ञान की प्राप्ति किस प्रकार हो सकती है इस पर कठोपनिषद में विचार किया गया है। ईश्वर ने हमारी इन्द्रियों को बर्हिमुखी बनाया है यही कारण है कि मनुष्य अपने अन्तस् की ओर देखने की अपेक्षा बाहर की ओर अधिक देखता है। अमरत्व की कामना का साधक बिरला ही ज्ञानी पुरुष दृष्टि को अन्तर्मुखी बना पाता है।[1] अन्तर्मुखी दृष्टि के पश्चात् अगला सोपान आत्मशुद्धि है जैसा कि कठोपनिषद में बताया गया है कि जब तक मनुष्य दुष्कर्मों का पूर्णत: निरोध नहीं कर देता, जब तक वह पूर्णत: शान्त और स्वस्थ नहीं हो जाता तब तक चाहे वह कितना ही बुद्धिमान क्यों न हो केवल बुद्धि के बल पर आत्मानुभव प्राप्त कर लेना सम्भव नहीं है।[2]

उपनिषदों में आत्मज्ञान की प्राप्ति हेतु गुरुदीक्षा के महत्व पर भी प्रकाश डाला गया है और कहा गया है कि जब तक गुरु द्वारा आत्मसाक्षात्कार की दीक्षा नहीं मिलती तब तक मनुष्य आध्यात्मिक जीवन का महत्व नहीं प्राप्त कर सकता।[3] सद्गुरु शिष्य को ध्यान का जो प्रत्यक्ष साधन बतलाता है वह उपनिषदों में 'ॐकार' है। 'ॐकार' की चर्चा करते हुए उपनिषदों में कहा गया है कि "समस्त वेद जिस अक्षर की घोषणा करते हैं, जो समस्त तपों का साध्य है, जिसकी प्राप्ति के लिए लोग ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं वह अक्षर मैं तुम्हें बतलाता हूँ। संक्षेप में वह ॐ है। ॐ पर ब्रह्म है। ॐ परम अक्षर है। ॐ परम आश्रय है।"[4] इसी संदर्भ में प्रश्नोपनिषद कहा गया है कि जिस प्रकार सांप

---

(1) कठोपनिषद, 2/4/1 ।

(2) वही, 1/2/24 ।

(3) छांदोग्य उपनिषद, 4/9/3 ।

(4) कठोपनिषद, 1/2/13/17 ।

अपनी केंचुली से मुक्त हो जाता है उसी प्रकार प्रणवध्यान करने वाला मनुष्य पापों से मुक्त हो जाता है और अपने जय की शक्ति से परमलोक को जाता है जहाँ उस पुरुष के दर्शन करता है जो शरीर की सचेतन प्राणशक्ति है और जो समस्त जीवन भूतों से परम श्रेष्ठ है।[1]

प्रश्न उठता है कि यदि ब्रह्म का साक्षात्कार संभव भी है तो क्या मनुष्य के पास ऐसी कोई अन्तर्वृत्ति है जिसके द्वारा वह ब्रह्म का साक्षात्कार कर सकता है? इस संदर्भ में कठोपनिषद में कहा गया है कि यह आत्मा जो समस्त भूतों में निभृत रूप से सन्नीहित है वह सबके लिए प्रत्यक्ष नहीं है केवल सूक्ष्मदर्शीय ऋषि ही अपनी सूक्ष्म बुद्धि की सहायता से उसका साक्षात्कार प्राप्त कर सकते हैं[2] । अत: ब्रह्म की सर्वव्यापकता का अर्थ यही है कि यदि मनुष्य पर्याप्त प्रयास करे तो वह अन्तस में ही ब्रह्म का साक्षात्कार कर सकता है।

उपनिषदों में आत्मानुभव की भी चर्चा की गई है जिसका संबंध साधक को ध्यान प्रक्रिया में अनुभव होने वाले विभिन्न वर्णों, नादों एवं प्रकाशों से हैं। वृहदारण्यक उपनिषद में परमार्थ पथ पर बढ़े हुए साधक को केशरिया वस्त्र, लाल पतंग, अग्निशिखा, रक्तोत्पला विद्युत के आकस्मिक आलोक आदि ऐसे ही दृश्य दिखाई देते हैं। यह आगामि साधक के वैभव हैं।[3]

आत्मानुभूति में रानाडे ने अनाहतनाद का वर्णन किया है। इसे उन्होंने आत्मसाक्षात्कार का सम्भावित प्रतीक बताया है। ये ईश्वरीय कृपा के द्योतक हैं। वस्तुत: नाद एक ही होता

---

(1) ले० प्रो० रानाडे अनु० रामानन्द तिवारी : उपनिषदों का रचनात्मक सर्वेक्षण, पृ० सं० 214 ।

(2) वही, पृ० सं० 220 ।

(3) वृहदारण्यकोनिषद - 2/3/6 ।

है किन्तु औपाधिक संबंध को व्यक्त करने के लिए उसको विभक्त किया गया है। किन्तु एकमात्र ॐकार या प्रणव ही उपाधि रहित शब्द तत्व के रूप में वर्णित होता है। रानडे ने इस सन्दर्भ में उपनिषदीय तथ्य प्रस्तुत करते हुए कहा है "साधारणतः ऐसा प्रतीत होता है कि उपनिषदीय साधकों को नाद की अपेक्षा रूप और तेज के अनुभव अधिक होते थे। वृहदारण्यकोपनिषद और मैत्री उपनिषद में बताया गया है कि परमार्थ पथ पर साधक कुछ आभ्यान्तरिक नादों का अनुभव करता है जिसका संबंध उन उपनिषकारों ने शरीर के आन्तरिक संचालित होने वाली पाचन क्रिया से कर दिया है।[1] इस प्रकार नाद मनुष्य के पाचन क्रिया के परिणाम हैं जिसे मनुष्य कान मूंदने मात्र से सुन सकता है और अन्त में जब मनुष्य मरता है तो वह कोई शब्द नहीं सुन सकता है। किन्तु रानडे इसे पाचनक्रिया का परिणाम नहीं मानते। उनका कथन है कि आध्यात्मिक अनुभवों से यह स्पष्ट हो गया है कि केवल कान मूंदने से ही हमें वह अनाहत नाद नहीं सुनाई पड़ता वरन् उसे हम कान खुला रहने पर भी सुन सकते हैं और अंत में एक बहरा व्यक्ति चाहे वह और कोई शब्द सुनने में समर्थ न हो इस नाद को सुन सकता है। यह सत्य है कि अनाहत नाद किसी सीमा तक शारीरिक स्थितियों पर निर्भर है किन्तु उसे शारीरिक स्थितियों का परिणाम कहना घोड़ों के आगे गाड़ी लगा देने के समान है।

इस प्रकार आत्मानुभूतिवादी दर्शन के प्रसंग में आलौकिक नादानुभव, प्रकाशानुभव, रूपानुभव आदि का विश्लेषण करते हुए इन्हें ईश्वरानुभूति प्रतीक बताया है। एक रहस्यवादी के लिए इन सबका उतना ही महत्व है जिस प्रकार जीवन के लिए समुचित

---

(1) रानाडे अनु० रामानन्द तिवारी : उपनिषद का रचनात्मक सर्वे, पृ० सं० 224।

आहार का होता है। इन सभी स्तरों का अन्तर्बोध साधक को होता है परन्तु उसे स्पष्ट वर्णित नहीं कर पाता है।

इस स्तर पर अनुभव का क्षेत्र इतना व्यापक एवं आनन्दमय रहता है कि किसी प्रकार की सीमा में बाँधकर उसे स्पष्ट करना मुश्किल हो जाता है।

उपनिषदीय वर्णन पद्धति से कतिपय दार्शनिक उसमें वर्णित आत्मा को अज्ञेय भी मानते हैं किन्तु यह स्वीकार कर लेना कोई अतार्किक नहीं है। आत्मा अज्ञेय है इसलिए कि वह सदैव विषयी है। भला जो विषयी है वह ज्ञान का विषय कैसे बन सकता है? इस संबंध में वृहदारण्यकोपनिषद का कथन है कि जिसके द्वारा समस्त वस्तुओं का ज्ञान होता है उसका ज्ञान किसके द्वारा हो सकता है?[1] केनोपनिषद में कहा गया है कि - "जिसको वाणी नहीं बोल सकती, किन्तु जिसके द्वारा वाणी बोल सकती है, जिसको बुद्धि नहीं सोच सकती किन्तु जिसके द्वारा बुद्धि सोच सकती है, जिसको आँख नहीं देख सकती, किन्तु जिसके द्वारा आँख देख सकती, किन्तु जिसके द्वारा आँख देख सकती है, केवल उसी को ब्रह्म या आत्मा जानों, इसको नहीं जिसे लोग बाहर उपासना करते हैं।[2]

इससे स्पष्ट होता है कि आत्मानुभूति आन्तरिक उपासना है वह बाह्य उपासना की अपेक्षा नहीं रखती। रहस्यानुभूति की यह प्रबल प्रेरणा आत्मतत्व की स्वानुभूति से ही प्राप्त होती है किसी वाह्य तथ्य से नहीं। ऐसी अवस्था में विषयी और विषय में एकात्म तथा तादात्म्य संबंध दृष्टिगोचर होता है। यही अवस्था परमावस्था है।

(ख) गीता एवं रहस्यवाद

भगवत् गीता भारतीय आध्यात्मिक, दार्शनिक एवं धार्मिक परम्परा का एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। महर्षि वेदव्यास इसके रचयिता हैं। गीता में प्राप्त दार्शनिक अवधारणाओं को रहस्यवाद की संज्ञा से विभूषित किया जाता है। गीता का रहस्यवाद अनुभूति अथवा उच्चतर अनुभूति अथवा उच्चतर ज्ञान पर आधारित है। यह उच्चतर अनुभूति के माध्यम से जो ज्ञान प्राप्त किया जाता है वह अवर्णनीय होता है अर्थात उस ज्ञान का वर्णन शब्दों में अथवा भाषा में नहीं किया जा सकता। उच्चतर अनुभूति अवर्णनीय होने के कारण रहस्यानुभूति है। इस अनुभूति के माध्यम से जो ज्ञान प्राप्त होता है उसे रहस्यवाद कहा जाता है।

गीता का आरम्भ अर्जुन की समस्याओं के समाधान हेतु हुआ है। महाभारत के युद्ध में युद्धकाल के दौरान अर्जुन का मन युद्ध के भयंकर परिणाम की आशंका से भयभीत हो जाता है और वह अपने सारथि मित्र भगवान श्रीकृष्ण से कह देता है कि उसे युद्ध में उपस्थित अपने बन्धु-बान्धवों की हत्या करना महापाप प्रतीत हो रहा है अतएव वह उनसे युद्ध नहीं कर सकता। अर्जुन के मन की इस दुर्बलता को दूर करने हेतु ही भगवान श्रीकृष्ण ने उसे गीता का उपदेश दिया।

श्रीकृष्ण उन सभी रहस्यों का उद्‌घाटन गीता में करते हैं, उन सभी सत्यों का ज्ञान कराते हैं, जो अर्जुन की श्रेयसाधना के लिए अपेक्षित है।

गीता का सर्वप्रथम तात्विक उद्‌घाटन देह-देही विवेक जगाने वाला है, जिससे शोकमुक्त होना संभव है। उसे "सांख्य-बुद्धि" कहा गया है किन्तु न तो देह-देही विवेक

वस्तुतः किसी तात्विक द्वैत का परिचायक है न ही गीता का दर्शन सांख्य की तरह द्वैतवादी दर्शन है। गीता में सांख्य दर्शन की प्रकृति की चर्चा है। उसे भिन्ना अष्टधा प्रकृति कहा गया है।[1] किन्तु पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण उसे अपनी प्रकृति कहते हैं। "मे भिन्ना प्रकृतिः"। साथ ही उसे "अपरा" कहकर अपनी अन्य जीवभूता परा प्रकृति का उद्घाटन करते हैं, जिसके द्वारा जगत को धारण किया जा रहा है।[2]

गीता में परा-अपरा-विधा प्रकृति का उद्घाटन परम पुरुष श्रीकृष्ण, ज्ञान-विज्ञान सहित, अपने ही स्वरूप का ऐसा समग्र ज्ञान कराने के लिए करते हैं कि जिसे प्राप्त कर लेने के पश्चात् कुछ भी ज्ञातव्य शेष नहीं रह जाता है। इसी प्रसंग में सर्वानुगत सब में ओत-प्रोत स्वयं पुरुषोत्तम के एकमेव तत्व का उद्घाटन है।

अर्थात् "मैं ही समस्त जगत का प्रभव हूँ तथा मैं ही प्रलय हूँ। मेरे अतिरिक्त मुझसे अलग कुछ भी नहीं है, यह समस्त सत्ता मुझ में ही अनुस्यूत है, जैसे सूत्र में मणियाँ पुरोई हुई होती हैं।[3]

---

(1) भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं में भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ।। गीता, 7.4 ।

(2) अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृति विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबलि ययेदं धार्यते जगत ।। वही, 7.5 ।

(3) अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा
मत्तः परतरं नान्यत्किीचदस्ति धनंजय
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव । वही, 7.6 ।

गीता का परमतत्व पुरुषोत्तम है जो सर्वातीत, अन्तर्यामी तथा अव्यक्त है। यह परमतत्व समस्त लोकों में विभक्त भी है। यह परमतत्व गुणातीत भी है और सर्वगुण सम्पन्न भी है। वही कर्ता, धर्ता एवं हर्ता भी है। इस जगत की प्रत्येक सत्ता, प्रत्येक रचना, प्रत्येक घटना में उसी का विधान है, लोक-परलोक उसी से उत्पन्न हैं, उसी में समाहित हैं, उसी से संचालित हैं। अतः देशकालगत समस्त सत्ता, समस्त गति, समस्त परिवर्तन भागवत विधान है। इस परमतत्व का सनातन अंश जीवात्म भाव से व्यक्ति है। इस जीव लोक में जो जीव हैं वह परमतत्व का ही सनातन अंश है।

जीवात्मा के प्रसंग में गीता का दर्शन मुख्यतः संश्लेषणात्मक है। उसकी भाषा में सांख्य भी है, योग भी है, वेदान्त भी है। देह-देहि विवेक को लेकर अनेक पुरुषों की निरन्तर सत्ता का संकेत भी किया गया है। जीवात्मा पुरुषोत्तम का नित्य सनातन अंश है, यह भी कहा गया है कि जिससे विशिष्टाद्वैत तथा द्वैत की धारणायें पुष्टि होती हैं किन्तु आत्मतत्व एक ही है वह अभिव्यक्त है, विभक्त केवल प्रतीतिगत है। इससे अद्वैत की धारणा पुष्ट होती है।

उपर्युक्त उदाहरणों तथा उनसे संबद्ध अवधारणाओं को लेकर गीता की व्याख्या आचार्यों और विद्वानों ने विभिन्न प्रकार से की है किन्तु यह अकल्पनीय होगा कि गीता का दर्शन विभिन्न धारणाओं एवं मतवादों का एक संकलन मात्र है। पुरुष तत्व के प्रसंग में उसकी भाषा विलक्षण है। वह "क्षर" को भी पुरुष कहती है, अक्षर को भी। जिस प्रकार गीता प्रकृति की "अपरा" और "परा" भूमिकाओं से सांख्य और वेदान्त दर्शन का समन्वय सम्पादित करती है, उसी प्रकार वह "क्षर" और "अक्षर" दोनों को "पुरुष" कहकर सम्पूर्ण भूतों की अनित्यता को कूटस्थ आत्म तत्व के साथ तत्वतः समन्वित

करके सर्वोपरि पुरुषोत्तम तत्व के अन्तर्गत सर्वांग एकत्व का रहस्य उद्घाटित करती है। गीता के जीवात्म दर्शन को किसी भी एक दार्शनिक परम्परा में इस प्रकार बांधकर समझना कि जिससे अन्य परम्पराओं का खण्डन हो समीचीन नहीं होगा।

वस्तुत: गीता दार्शनिक प्रतिपादन का ग्रन्थ नहीं है। उसमें परमात्म परमतत्त्व, प्राकृत विश्व जीवन अथवा जीवात्माभिव्यक्ति की चर्चा किसी दार्शनिक निर्णय के लिए अथवा विधा के लिए नहीं की गई है। उसकी तात्विक चर्चा का प्रयोजन केवल उस परमश्रेय की साधना के निमित्त है, जो परम सत्य का दर्शन भी है, परमतत्त्व की प्राप्ति भी, सर्वांग सर्वोत्तम योगसिद्धि भी। उस साधना के क्रमिक सोपान है, पारस्परिक आयाम है और अधिकाधिक अनुभूतियाँ हैं, अनन्य सत्य की क्रमशः उद्घाटित होने वाली गुह्य, गुह्यतर, गुह्यतम गहराइयाँ हैं। यह सत्य है कि विभिन्न जीव है। जिनकी लोक-परलोक यात्रा होती है, जिनका पृथ्वी से भी संबंध है, स्वर्ग से भी, जो जन्म-जन्मान्तर में क्रमशः विकास करते हुए भगवत विधान के अधीन परागति को प्राप्त होते हैं। अर्थात् बहुत से जन्मों के पश्चात् ज्ञानवान मुझे प्राप्त करता है।

आत्मतत्त्व के प्रसंग में गीता की यह घोषणा सत्य है कि वह न जन्म लेता है, न मरता है, वह नित्य है, शाश्वत है, अविकारी है, स्थाणु है, अचल है, सनातन है। वह एक ऐसा नित्य सत्य है कि जिसका जन्मादि से कोई सम्बन्ध नहीं। यह भी सत्य है कि जीवात्मा परमतत्त्व पुरुषोत्तम का नित्यांश है और जो समस्त जीवों को धारण करती है। समस्त जीव उसी परमात्मा से उद्भूत हैं, उसी में नित्य स्थित है, उसी के हैं, उससे अभिन्न हैं।

इस प्रकार भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को अपनी विभूतियों और संसार का अपने ऊपर अवलम्बित होने का प्रत्यक्ष अनुभव करा दिया। साथ ही उन्होंने अर्जुन को यह भी

उपदेश दिया कि उसे अपने को भगवान के ऊपर छोड़कर उन्हीं की उद्देश्य पूर्ति के लिए कर्म करना चाहिए। इस प्रकार गीता ने अपने तत्त्व-दर्शन में सांख्यों के प्रतिवाद, उपनिषदों के ब्रह्मवाद और भागवतों के ईश्वरवाद तीनों का समन्वय कर दिया। गीता का उपदेश सुनने के पश्चात् अर्जुन ने भगवान श्रीकृष्ण से कहा कि अब मेरा अज्ञान दूर हो गया और वह अपना कर्त्तव्य पालन करने के लिए अर्थात् उस परिस्थिति विशेष में युद्ध करने के लिए तैयार हो गया। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि भगवत् गीता का तात्पर्य कर्त्तव्य-पालन या कर्म से है, कर्त्ता को कर्म करते समय कर्त्तव्य के अहंकार से रहित होना चाहिए। इसके अतिरिक्त स्वयं को परमेश्वर का निमित्त मानकर कर्म करते रहना चाहिए।

भगवत गीता का सार्वभौमिकता का रहस्य यही है कि उसमें सभी रुचियों एवं प्रवृत्तियों के लोगों के अपने अनुकूल संदेश प्राप्त हो जाता है चाहे वे ज्ञान प्रधान हों, क्रिया प्रधान हों या भक्ति प्रधान हों। गीता ने कर्म, ज्ञान और भक्ति तीनों मार्गों को एकसाथ गूँथकर ऐसी साधना पद्धति विकसित की है जिसमें कर्म, भक्ति और ज्ञान एक दूसरे के विरोधी नहीं अपितु एक दूसरे के पूरक हैं। इस तथ्य की परीक्षा हेतु इन तीनों का सूक्ष्म अवलोकन करना अपरिहार्य होगा।

सर्वप्रथम कर्मयोग वह सिद्धान्त है जिसके अनुसार ईश्वर का साक्षात्कार कर्म के द्वारा हो सकता है। इसके लिए हमें कर्म छोड़ने की आवश्यकता नहीं है। गीता में कहा गया है कि "तेरा कर्म मात्र में ही अधिकार होवे, फल में कभी नहीं और तू कर्मों के फल की वासना वाला भी मत हो तथा तेरी कर्म न करने पर भी प्रीति न होवे।"[1]

---

(1) कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

मा कर्मफल हेतुर्भूमा ते सगोऽस्त्वकर्मणि।। - गीता, 2/47 ।

कर्मयोग के चार चरण हैं। सर्वप्रथम मानव का केवल कर्म पर ही अधिकार है उसके फल में नहीं। यदि व्यक्ति को फल के प्रति आसक्ति नहीं होगी तो फल प्राप्त न होने पर भी वह निराश नहीं होगा और एक आस्थावान व्यक्ति बना रहेगा। कर्म को स्वत: उसके नैतिक मूल्य के लिए किया जाये, उसके अपेक्षित फल के लिए नहीं। कार्य की प्रेरणा जब कर्म का नैतिक मूल्य नहीं वरन जब उसका अपेक्षित फल हो जाता है तो व्यक्ति स्वाभाविक रूप से कियी अनुचित साधन से भी उस फल को प्राप्त करने का लोभ रोक नहीं सकेगा। नैतिक दृष्टि से साध्य की पवित्रता ही पर्याप्त नहीं है वरन साधन को भी पवित्र होना चाहिए। अत: भगवत गीता कहती है कि न तो तेरी कर्म के अपेक्षित एवं संभावित फल में आसक्ति हो न वे तेरे कर्त्तव्य करने की प्रेरणा बने और अंत में तेरी कर्म न करने में भी प्रीति न होवे। इस अंतिम सूत्र के द्वारा गीता इस बात को प्रतिपादित करना चाहती है कि व्यक्ति को आलस्यवश, प्रमादवश या भयवश अपने कर्म नहीं छोड़ना चाहिए। कर्म तो करना ही है परन्तु इन्हें हमें इस कौशल के साथ करना है कि वे हमारे बन्धन का कारण न बने वरन मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करें।

प्रश्न उठता है कि मनुष्य कौन से कर्म करे और किस प्रकार करे ? इस संदर्भ में गीता 'स्वधर्म' का पालन करने हेतु मनुष्य को प्रेरित करती है। 'स्वधर्म' एक अत्यन्त ही व्यापक धारणा है जिसमें मनुष्य के सामाजिक दायित्व उसकी शारीरिक एवं मानसिक क्षमताओं के अनुसार उसके कार्य करने की क्षमता, उसका स्वभाव, रुचियाँ, सामर्थ्य सबका समावेश हो जाता है। वस्तुत: व्यक्ति अपने स्वधर्म के अतिरिक्त और उससे अधिक कुछ भी नहीं कर सकता। किन्तु संसार में कुछ विरले ही लोगों को स्वधर्म का ज्ञान हो पाता है। अधिकांश मनुष्य दूसरे के आर्कषक कार्यों को देखकर उन्हें करने की लालसावश कार्य करते हैं। परिणामस्वरूप ऐसे व्यक्ति को असफलता ही मिलती है। इसलिए गीता ने

दूसरे के धर्मों को हमारे लिए भयावह कहा है और स्वधर्म का आचरण करते हुए मर जाने को श्रेयस्कर कहा है। युद्ध भूमि में अर्जुन को सन्यासियों का धर्म, भिक्षा आकर्षक लग रहा था और इस कारण वह उसे अपनाने जा रहा था। परन्तु वह क्षत्रिय था और अन्याय का प्रतिकार करना उसकी मानसिकता थी, इसलिए श्रीकृष्ण अर्जुन को स्वधर्म पालन की शिक्षा देते हैं।

भगवत गीता इस प्रश्न का भी समाधान करती है कि मनुष्य को कैसी मानसिकता से स्वधर्म का पालन करना चाहिए। इस संदर्भ में गीता कहती है कि व्यक्ति को निष्काम भाव से या फल के प्रति अनासक्त भाव से अपना स्वधर्म करना चाहिए। निष्काम भाव से या अनासक भाव से कर्म करने का तात्पर्य यह नहीं है कि मनुष्य बिना सोचे समझे या संभावित परिणामों पर विचार किये बिना कोई कर्म करे। अपने कर्मों के परिणामों का दायित्व स्वयं मनुष्य पर है। इसलिए पूरी जिम्मेदारी के साथ और पर्याप्त सोच समझकर उसके कर्म करना चाहिए। अनासक्त भाव का तात्पर्य यह है कि संभावित फल के प्रति निर्लिप्त रहकर ऐसी मानसिकता से कि फल प्राप्त हो गया तो ठीक है और यदि नहीं भी प्राप्त हुआ तो भी कोई हर्ज नहीं। ऐसा व्यक्ति कभी निराश नहीं होता।

कर्मयोग के पश्चात् भक्तियोग की चर्चा गीता में की गई है। भक्ति का मार्ग भावना प्रधांन लोगों के लिए उपयुक्त है। भक्त का अहंकार शून्य होकर ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण का भाव भक्ति है। जब भक्त ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण कर देता है तो उसकी चिन्ता स्वयं ईश्वर को करनी पड़ती है। महाभारत के युद्ध में जब भीष्म ने अर्जुन के वध की प्रतिज्ञा की तो अर्जुन की चिन्ता भगवान श्रीकृष्ण को हुई, वह तो आराम से सो रहा था। भगवत गीता में भी भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन को विविध प्रकार के उपदेश देने के उपरान्त कहते हैं कि यदि तुझे इनमें से कोई भी मार्ग रुचिकर नहीं लगता है तो तू इन सबको छोड़कर

केवल एक काम कर, मेरी शरण में आ जा फिर तेरे कल्याण की चिन्ता मैं करूँगा।[1] इस प्रकार जो व्यक्ति स्वयं को ईश्वर के प्रति पूर्णरूप से समर्पित कर देता है उसके योगक्षेम का भार ईश्वर को वहन करना पड़ता है।

भक्तियोग के बाद ज्ञानयोग की चर्चा गीता में की गई है। ज्ञानयोग ससीम का असीम से अपरोक्षानुभूति के माध्यम से मिलन है। यह अणु आत्मा का यह अनुभव करना है कि वह विभू परमात्मा से भिन्न नहीं है। ज्ञान के तीन स्तर हैं। प्रथम तामस ज्ञान - इस शरीर को ही आत्मा समझना है। द्वितीय राजस ज्ञान - विभिन्न शरीरों में रहने वाली आत्माओं कों एक दूसरे से ऐसे भिन्न समझना है जिनमें एकता का कोई आधार नहीं है। तृतीय सात्विक ज्ञान - ऐसा ज्ञान है जो विभिन्न शरीरों में तथा संसार के विभिन्न पदार्थों में एक ही परमतत्व का दर्शन करता है। ज्ञान के उपरोक्त प्रकार क्रमशः सामान्य ज्ञान, वैज्ञानिक ज्ञान और दार्शनिक ज्ञान कहे जाते हैं। साधक का संसार के विभिन्न जीवों में तथा संसार के विभिन्न पदार्थों में एक ही तत्व, परमपिता परमेश्वर के दर्शन करना ज्ञानयोग की साधना का लक्षण है। ज्ञानयोगी इस प्रकार की रहस्यमय अनुभूति करता है कि संसार के समस्त जीवों में एक ही परमतत्व परमेश्वर विद्यमान है तथा संसार के सब जीव एवं पदार्थ उसी परमेश्वर में स्थिति हैं। सभी प्रकार की स्वतः की इच्छाओं एवं भावनाओं को तिलांजलि देकर ईश्वर की इच्छा के लिए ही कर्म करना ज्ञानमार्गी का लक्ष्य होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि तीन अलग-अलग मनोवृत्तियों से कार्य करने पर भी उन सबका परिणाम एक होता है और वह है अनासक्त भाव से स्वधर्म का आचरण करना।

---

(1) सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।

अहं त्वां सर्वपापेथ्यो मोक्षधिष्यामि मा शुचः ।। - गीता, 18.66 ।

यह वह मार्ग है जिस पर चलते हुए मनुष्य अपने परम लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। निष्काम भाव से किये गये कर्म बन्धनकारक नहीं होते। ऐसे कर्मों से ही व्यक्ति पूर्णता की अवस्था में पहुँचता है, ब्राह्मी स्थिति में पहुँचता है या ईश्वर में निवास करता है और परम शान्ति को प्राप्त करता है। ये कर्म सिर्फ अपने लिए ही नहीं होते बल्कि लोकहित की दृष्टि से होते हैं। गीता में ऐसे व्यक्ति को 'स्थितप्रज्ञ' कहते हैं जिसने अपने मन और इन्द्रियों को पूर्णतः अपने वश में कर लिया हो तथा सुख और दुःख में समत्व भाव रखता हो और अनासक्त भाव से अपने कर्त्तव्य का पालन करने हेतु लोकसंग्रह के लिए कर्म करता है। ऐसे स्थितप्रज्ञ व्यक्ति की स्थिति को 'ब्राह्मी स्थिति' कहा गया है। यही स्थिति मोक्ष की स्थिति है और यही गीता का रहस्य है।

(ग) बौद्ध दर्शन में रहस्यवाद :

बुद्ध के दर्शन के संबंध में सामान्यतः यह धारणा पायी जाती है कि उनका दर्शन मात्र व्यावहारिक है, नैतिक साधना और योग पर यह अधिक जोर देता है तथा उनका कोई दार्शनिक सिद्धान्त नहीं था। जब कभी भी बुद्ध से जीव-जगत आदि के विषय में दार्शनिक प्रश्न पूछे जाते थे तो वे मौन रह जाते थे किन्तु उनके मौन रहने के कारण यह अर्थ लगाना सर्वथा असत्य है कि या तो वे दार्शनिक सिद्धान्तों से परिचित नहीं थे या उनके कोई दार्शनिक सिद्धान्त नहीं थे या वे अज्ञेयवादी थे या वे निषेधवादी थे। बुद्ध आत्मा-जगत आदि दार्शनिक प्रश्नों को अव्याकतानि कहते थे अर्थात् उनके अनुसार ये प्रश्न पूछे जाने के योग्य नहीं है क्योंकि मानव ज्ञान की एक सीमा होती है जो असीम दार्शनिक प्रश्नों को समझ पाने में असमर्थ है। इन प्रश्नों का समाधान बुद्धि-विकल्पों द्वारा नहीं हो

सकता इनका समाधान तत्व साक्षात्कार से ही हो सकता है जो अपरोक्षानुभूति गम्य है। अत: बुद्ध का 'मौन' उनके आध्यात्मिक अद्वैत्ववाद का प्रतिपादक है यही तथ्य बौद्ध दर्शन में रहस्यवाद को जन्म देता है।

शून्यवाद या माध्यमिक सम्प्रदाय बौद्ध दर्शन का अत्यन्त महत्वपूर्ण सम्प्रदाय है। शून्यवाद रहस्यवाद है उसमें बौद्धिकता का निराकरण है। शून्यवाद को दार्शनिक सम्प्रदाय के रूप में सर्वप्रथम आचार्य नागार्जुन ने प्रतिष्ठित किया। 'शून्य' पद के सही अर्थ न जानने के कारण अनेक भ्रांतियों ने जन्म लिया। 'शून्य' पद का प्रचलित साधारण अर्थ अभाव, असत् या सर्वनिषेध है। इस प्रचलित अर्थ ने ही अनेक भ्रांतियों को जन्म दिया जबकि माध्यमिकों ने 'शून्य' पद का अर्थ साधारण प्रचलित अर्थ के रूप में ग्रहण नहीं किया।

नागार्जुन ने 'शून्य' नामक तत्व को परमार्थ शब्द से अभिहित किया है। यह वह तत्व है जिसका वर्णन शब्दों में नहीं किया जा सकता। शून्य न सत् है, न असत् है, न उभय है और न अनुभय है। वह समस्त विचारों से परे है। उसको समझने के लिए उपनिषदों की 'नेति-नेति' दृष्टि या व्यतिरेक दृष्टि का आश्रय लिया जाता है। इस प्रकार शून्यता समस्त दृष्टियों का खण्डन है। शून्यता अपने में कोई दृष्टि नहीं है। जिनकी शून्यता दृष्टि होती है माध्यमिक उनकी दृष्टि का भी खण्डन करते हैं।[1]

---

(1) शून्यता सर्वदृष्टिनां प्रोक्ता नि:सरणं जिनै: ।

येषां तु शून्यता दृष्टिस्तानसाध्यान् बभाषिरे ॥ - नागार्जुन: मध्यमकशास्त्र, 8.13. ।

नागार्जुन के अनुसार शून्य का कोई परवर्तीय प्रत्यय नहीं है अर्थात् शून्य को हम किसी दूसरे प्रत्यय के द्वारा नहीं समझ सकते हैं। शून्य को शून्य के द्वारा समझा जा सकता है। इसलिए शून्य अपरप्रत्यय है, फिर शून्य शान्त है अर्थात् शून्य में किसी प्रकार का विकार नहीं है। वह समस्त प्रपंचों से या शब्दों से परे है। वह निर्विकल्प है अर्थात् चित्त प्रचार रूप समस्त विकल्पों से रहित है, वह अनानार्थ है अर्थात् उसका और एक अभिन्न अर्थ है वह अनेकार्थक नहीं है। इस प्रकार तत्व का लक्षण करते हुए शून्य को तत्व मानते हुए नागार्जुन ने तत्व का लक्षण किया है।[1] इससे स्पष्ट है कि शून्य का अर्थ असत् या अभाव नहीं है। असत् या अभाव एक कोटि है और शून्य सभी कोटियों से परे है।

शून्य की निरपेक्षवादी व्याख्या भी कुछ दार्शनिक करते हैं। उदाहरण के लिए जब मध्वाचार्य कहते हैं – यत् शून्यवादिनः शून्य तदैव ब्रह्म मायिन[2] तब वे शून्य को निर्गुण ब्रह्म का स्थान देते प्रतीत होते हैं। वे शून्य को निरपेक्ष सत् कहते हैं। किन्तु नागार्जुन के अनुसार शून्य की निरपेक्षवादी व्याख्या उसे समझने के लिए अत्यन्त उपयोगी है किन्तु इतना होने पर भी वह पर्याप्त नहीं है। निरपेक्षसद्वाद बुद्धिवाद है किन्तु शून्यवाद बुद्धिवाद का अतिक्रमण करने वाला है। इसके अतिरिक्त निरपेक्षवाद सत् और ज्ञान के अभेद पर बल देता है किन्तु शून्यवाद इस अभेद को अस्वीकार करता है।

शून्यवाद एवं निरपेक्ष सद्वाद में कुछ समानताएँ हैं। दोनों लोक संवृत्ति सत्य तथा

---

(1) अपर प्रत्ययं शान्तं प्रपञ्चैर - प्रपञ्चितम् ।
निर्विकल्पमनानार्थमेततत्वस्य लखणम् ॥ - नागार्जुनः मध्यमकशास्त्र, 18.9 ।

(2) अणुभाष्य - 2.2.29 ।

परमार्थ सत्य को मानते हैं और लोक संवृत्ति सत्य का खण्डन कर परमार्थ सत्य की उपलब्धि पर बल देते हैं।

वस्तुतः यदि शून्य को सद्दृष्टि से या असद्दृष्टि से किसी प्रकार का भाव या अभाव माना जायेगा तो नागार्जुन कहेंगे कि निःस्वभावता न शून्य है, न अशून्य है, न उभय और न भय। वास्तव में इसे शून्य केवल समझने के लिए कहा जाता है। यर्थाथतः उसको शून्य भी नहीं कहा जा सकता। नागार्जुन कहते हैं –

शून्यमिति न वक्तव्यय शून्यमिति वा भवेत् ।
उभयं नोभयं चेति प्रज्ञप्त्यर्थ तु कथ्यते ॥[1]

फिर शून्य को अस्तिमात्र समझना शाश्वतवाद है और नास्ति समझना उच्छेदवाद है। इसीलिए शून्यवाद न अस्तिवाद का सहारा लेता है और न नास्तिवाद का। शून्यवाद अस्ति और नास्ति दोनों का मध्य बिन्दु है।

शून्यवाद की सापेक्षवादी व्याख्या भी कुछ दार्शनिक करते हैं। ऐसे दार्शनिकों का मानना है कि शून्यवाद के अनुसार लोक संवृत्ति सत्य और परमार्थ सत्य एक दूसरे से सापेक्ष हैं। इस बात को नागार्जुन भी स्वीकार करते हैं कि व्यवहार का आश्रय लिए बिना परमार्थ का उपदेश नहीं दिया जा सकता और परमार्थ का सहारा लिए बिना निर्वाण की प्राप्ति नहीं हो सकती।[2] इस प्रकार स्पष्ट होता है कि परमार्थ दृष्टि और लोक संवृत्ति दृष्टि

---

(1) मध्यमक शास्त्र, 21/11 ।

(2) व्यवहारमनाश्रित्य परमार्थो न देश्यते ।
परमार्थमनागम्य निर्वाणं नाधिगम्यते ॥ वही, 24/10 ।

एक दूसरे से सापेक्ष हैं। नागार्जुन को प्रतीतिवादी भी माना जाता है क्योंकि नागार्जुन संसार और निर्वाण में किसी प्रकार का भेद नहीं करते। माध्यमिकों को संघातवादी भी कहा जाता है क्योंकि लोक संवृत्ति की दृष्टि से वे सभी वस्तुओं को संघात मात्र मानते हैं। किन्तु शून्यवाद को सापेक्षतावाद और प्रतीतिवाद समझना उचित नहीं है। वास्तव में प्रतीतिवाद और सापेक्षतावाद संसार को स्वीकार तो करते हैं किन्तु इसके मूल में निर्वाण को नहीं स्वीकार करते। नागार्जुन जब संसार को निर्वाण कहते हैं तो उनका तात्पर्य यहाँ यह है कि तत्त्वतः संसार और निर्वाण अभिन्न हैं। किन्तु दोनों में दृष्टि भेद है। अर्थात् संसार और निर्वाण में भेद केवल ज्ञानमीमांसा के परिप्रेक्ष्य में हैं। अन्य दृष्टियों की भाँति इस दृष्टि का भी निराकरण ही किया जाता है। इसलिए शून्यवाद को सापेक्षितावाद और प्रतीतिवाद समझना गलत है।

शून्यवाद को संघातवाद कहना भी गलत है। संघातवाद के द्वारा शून्यवादी यह सिद्ध करते हैं कि प्रत्येक वस्तु निःस्वभाव है। इसके विपरीत पाश्चात्य संघातवाद मानते हैं कि प्रत्येक वस्तु कुछ तत्वों का संघात है और ये तत्व अधिक विश्लेषण करने पर अन्य तत्व के संघात हैं। ऐसा संघातवाद उनके लिए एक प्रतिज्ञा है किन्तु शून्यवादी के लिए यह कोई प्रतिज्ञा नहीं है अतः शून्यवाद न संघातवाद है और न निरपेक्ष सत्तावाद और न ही प्रतीतिवाद।

कुछ लोग शून्यवाद को अद्वैतवाद समझते हैं। वे शून्य को वैसे ही अनिर्वचनीय, निर्गुण, निराकार तथा निर्विशेष मानते हैं जैसे शंकर ब्रह्म को। इसके अतिरिक्त जिस प्रकार वेदान्ती प्रतिभासिक, व्यावहारिक और पारमार्थिक सत्ता का भेद करते हैं और ब्रह्म को ही परमार्थ मानते हैं वैसे ही माध्यमिक परिकल्पित, सांवृत्तिक और परिनिष्पन्न सत् का भेद

करते हुए शून्य को परिनिष्पन्न (परमार्थ) मानते हैं। इसलिए अधिकांश आचार्य शंकर को प्रच्छन्न बौद्ध कहते हैं।

उपरोक्त वर्णित शून्य और ब्रह्म की व्याख्या ठीक नहीं है। शंकर जैसे वेदान्तियों को प्रच्छन्न बौद्ध नहीं कहा जा सकता और नागार्जुन जैसे शून्यवादी ब्रह्मवादी नहीं माना जा सकता क्योंकि दोनों में भेद है। शून्यवाद अद्वयवाद है और ब्रह्मवाद अद्वैतवाद है। शून्यवाद निरन्वय तत्ववाद है और ब्रह्मवाद सान्वय तत्ववाद है। शून्यवाद के अनुसार सभी वस्तुएँ निरन्वय हैं और कोई सत् या तत्व उनमें अनुस्यूत नहीं है। इसके विपरीत ब्रह्मवाद मानता है कि सभी वस्तुओं में ब्रह्म अनुस्यूत है। ब्रह्मवाद आत्मवाद है और शून्यवाद अनात्मवाद है। ब्रह्मवाद नित्यता दृष्टि का तार्किक परिणाम है और शून्यवाद अनित्यतावाद का तार्किक निष्कर्ष है। इस प्रकार शून्यवाद और ब्रह्मवाद में अन्तर है।

वास्तव में शून्य का प्रयोग मुख्यतः दो अर्थों में किया जाता है। पहला खण्डन के अर्थ में और दूसरा तथता के अर्थ में। इन दोनों अर्थों को एक दूसरे से पृथक नहीं किया जा सकता। परन्तु दोनों को मिलाकर जब हम शून्य की अवधारणा करते हैं तो शून्य हमारे लिए एक रहस्य बन जाता है। इस रहस्य को शून्यवादी साधना एक रहस्यवादी दर्शन में बदल देती है। प्रो० संगमलाल कहते हैं, शून्यवाद वितर्क है यह वादों और दृष्टियों का खण्डन है। शून्यवाद के लिए कम से कम दो दृष्टियों का होना आवश्यक है, जिसका यह खण्डन करे।[1]

---

(1) पाण्डेय संगमलाल : भारतीय दर्शन की कहानी, पृ० सं०-163, सेन्ट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद, 1976।

नागार्जुन ने किसी भी वस्तु की आलोचना करने के लिए चार दृष्टियों का वर्णन किया है जो इस प्रकार हैं – सद् दृष्टि, असद दृष्टि, उभय दृष्टि, अनुभय दृष्टि। सर्वप्रथम नागार्जुन किसी विषय के बारे में इन चार दृष्टियों के आधार पर चार विकल्प प्रस्तुत करते हैं, फिर वे प्रत्येक विकल्प का खण्डन करते हैं अंततः खण्डन द्वारा यह सिद्ध करते हैं कि यथार्थतः जो वस्तु है वह निर्विकल्प है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वह निर्विकल्प तत्व किसी ऐसे लोक में हैं जो इन चारों विकल्पों के लोक से परे हैं। इसलिए नागार्जुन स्पष्टतः कहते हैं कि प्रत्येक विकल्प के निराकरण से सिद्ध होता है कि उस विकल्प का ही मूल शून्यता, रिक्तता या नैरात्म्यता है जिसकी मिथ्या कल्पना के रूप में वह विकल्प प्रकल्पित किया जाता है।

शून्यता के तर्कशास्त्र को चतुष्कोटिक न्याय प्रणाली कहा जाता है। इसके द्वारा उन्होंने सभी विकल्पों या विकल्प मात्र का खण्डन किया और सिद्ध किया कि किसी विषय पर जितना ही विचार किया जाय उतना ही वह विषय शून्यवत प्रतीत होता है। यथा-यथा विचार्यते तथा-तथा विशीर्यते।[1] इस प्रणाली का दृष्टान्त उत्पत्ति के खण्डन द्वारा दिया जा सकता है। जब कोई वस्तु (तेल) किसी वस्तु (तिल) से उत्पन्न होती है तो उसकी उत्पत्ति की चार अवस्थाएँ हो सकती हैं (1) तेल स्वतः उत्पन्न हुआ, (2) तेल परतः उत्पन्न हुआ, (3) तेल स्वतः और परतः उत्पन्न हुआ (4) तेल न स्वतः उत्पन्न हुआ और न परतः । किन्तु ये चारों मत गलत हैं। क्योंकि तेल स्वतः उत्पन्न नहीं हो सकता। यदि ऐसा

---

(1) पाण्डेय संगमलाल : भारतीय दर्शन की कहानी, पृ० सं० - 166, सेन्ट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद, 1976 ।

होता तो इसका तात्पर्य है कि वह अपनी उत्पत्ति के पूर्व विद्यमान हैं किन्तु यह कैसे हो सकता है, भला कोई वस्तु अपनी उत्पत्ति के पूर्व कैसे विद्यमान रह सकती है। तेल परत: से उत्पन्न हो सकता है, क्योंकि तेल से भिन्न है जो उसका विरोधी है वह तेल को उत्पन्न नहीं कर सकता। तेल जब न तो स्वत: से उत्पन्न है और न अपने से भिन्न किसी अन्य वस्तु से उत्पन्न है तो वह दोनों के सम्मिलन से भी उत्पन्न नहीं होगा क्योंकि भिन्न-अभिन्न का सम्मिलन असंगत है। अंतत: यदि तेल न अपने से उत्पन्न है और न अपने से भिन्न है किसी वस्तु से तो फिर वह निर्हेतुक है, अकारण है, वह अकस्मात हो गया है। इन सबकी उत्पत्ति मानना असंगत है।

इस तरह इन चारों दृष्टियों से उत्पत्ति असंगत है। वास्तव में उत्पत्ति होती ही नहीं है। वह शून्यता है। लोक व्यवहार में जो उत्पत्ति देखी जाती है वह केवल सांवृत्तिक है अर्थात् उत्पत्ति केवल देखने में है, वह मूलत: होती ही नहीं। अत: वास्तव में शून्यवाद रहस्यवाद है। उसमें बौद्धिकता का निराकरण है। शून्यवाद आत्यान्तिक गहन चिन्तन को विचार और आचार दोनों में कार्यान्वित करता है। अत: भले ही वह रहस्यवाद हो किन्तु वह सच्चा दर्शन भी है और उसे दर्शन जगत से बहिष्कृत नहीं किया जा सकता है।

(घ) अद्वैत वेदान्त एवं रहस्यवाद :

शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में भी रहस्यवाद का पुट देखने को मिलता है। अद्वैत वेदान्त का मुख्य संप्रत्यय आत्मा या ब्रह्म है। उपनिषद की भाँति अद्वैत वेदान्त भी आत्मा और ब्रह्म में तादात्म्य मानता है अर्थात् आत्मा और ब्रह्म में अभेद है। इस अभेद की

उद्घोषणा आचार्य शंकर निम्न श्रुतियों के माध्यम से करते हैं – अहं ब्रह्मास्मि।[1] तत्त्वमसि।[2] अयमात्मा ब्रह्म।[3]

अद्वैत वेदान्त के अनुसार ब्रह्म अथवा आत्मा प्रमाणों का विषय नहीं है। यहाँ तक कि ज्ञान का विषय भी नहीं है। इस बात की पुष्टि के लिए शंकराचार्य कहते हैं कि प्रमाण शब्द का व्युत्पतिमूलक अर्थ है– वह जिसके द्वारा ज्ञान के विषय का मापन किया जाता है अथवा जिसके द्वारा ज्ञेय को सीमित या परिछिन्न किया जाता है आत्मा इन सभी उपाधियों से परे है अर्थात् आत्मा अपरिछिन्न है उसे प्रमाणों अथवा ज्ञान का विषय नहीं बनाया जा सकता। इन्द्रिय, बुद्धि विकल्प और वाणी द्वारा ग्राह्य न होने के कारण उसे अगोचर, अतीन्द्रिय, निर्विकल्प और अनिर्वचनीय कहा जाता है। समस्त अनुभव का अधिष्ठान होने के कारण ब्रह्म स्वतः सिद्ध और स्वप्रकाश आत्मचैतन्य है। उसका वर्णन निषेध रूप में करना ही अपेक्षित है। उसका सर्वोच्च निर्वचन 'नेति-नेति' है। नेति-नेति से ब्रह्म के गुणों का, विशेषणों का, निर्वचनों का निषेध होता है स्वयं ब्रह्म का नहीं। नेति-नेति से ब्रह्म की अनिर्वचनीयता और निर्विशेषता सिद्ध होती है उसकी शून्यता नहीं। याज्ञवलक्य का उद्घोष है कि दृष्टा का दर्शन, विज्ञाता का विज्ञान असंभव है क्योंकि जिसके द्वारा यह शब्द दृश्य प्रपंच जाना जाता है उस विज्ञाता को विज्ञेय या विषय के रूप में कैसे जाना जा सकता है।[4]

---

(1) वृहदारण्यक उपनिषद, 1/4/10।

(2) छांदोग्य उपनिषद, 6/8/7।

(3) वृहदारण्यक उपनिषद, 2/5/19।

(4) वही, 2/4/14

किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि बुद्धि विकल्पातीत विज्ञाता या दृष्टा सर्वथा अज्ञेय या शून्य है। इसी को स्पष्ट करने के लिए याज्ञवल्क्य ने पुन: उद्घोष किया कि स्वत: सिद्ध और स्वप्रकाश विज्ञाता के विज्ञान का या दृष्टा की दृष्टि का लोप कभी भी नहीं हो सकता।[1] इन्द्रिय संवेदन, बुद्धि विकल्प और वाणी के शब्दों द्वारा अग्राह्य निर्विशेष आत्मचैतन्य अपरोक्षानुभूतिगम्य है। सापेक्ष बुद्धि ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञान की त्रिपुटी के अन्तर्गत कार्य करती है। आत्मतत्व इस त्रिपुटि के और बुद्धि कोटियों के ऊपर है, उनका अधिष्ठान है। अत: अद्वैत और निर्विकल्प आत्मा बुद्धि ग्राह्य नहीं हो सकता। सविकल्प बुद्धि विषयी और विषय में, ज्ञाता और ज्ञेय में, प्रमाता और प्रमेय में भेद करके ज्ञान दोनों का संबंध मानती है, किन्तु यह ज्ञान खण्डित, सविकल्प और मिथ्या है। परमार्थ में तो ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञान एक हो जाते हैं। आत्मा ही प्रमाता जीव और प्रमेय जगत् के रूप में प्रतीत होता है। जीव और जगत् का स्थान एक ही है। अत: विशुद्ध नित्यचैतन्य ही शुद्ध ज्ञान, शुद्ध ज्ञाता और शुद्ध ज्ञेय है। आत्मचैतन्य में त्रिपुटि प्रत्यक्ष नहीं है। सापेक्ष बुद्धि के विकल्प जाल में निरपेक्ष आत्मतत्व बद्ध नहीं हो सकता। अत: यह आक्षेप लगाना कि अद्वैती तत्व को अनिर्वचनीय कहते हैं और उसका निर्वचन भी करते हैं, उचित नहीं है क्योंकि तत्व का निर्वचन व्यावहारिक स्तर पर बुद्धि द्वारा किया जा रहा है और यहाँ भी निषेध रूप से निर्वचन का प्राधान्य है। निषेधात्मक निर्वचन वस्तुत: निर्वचन का निषेध है ब्रह्म का नहीं। अत: यह आक्षेप लगाना भी अनुचित है कि बुद्धि तत्व को अज्ञेय रूप से ग्रहण करती है क्योंकि यह तत्व का ज्ञान नहीं है। अपितु बुद्धि द्वारा अपने अज्ञान का तत्व को न जानने की अपनी सीमा का ज्ञान है। इसी आधार पर बुद्धि तत्व की ओर संकेत करती है

---

(1) नहि द्रष्टुर्दृष्टेः विपरिलोपो विद्यते,...अविनाशित्वात् । वृहदारण्यक उपनिषद, 4/3/23 ।

और उसे स्वनुभूतिगम्य बताती है। बुद्धि की कल्पनाओं का आधारभूत तत्व स्वतः सिद्ध है। शंकराचार्य लिखते हैं कि "आत्मा होने के कारण ही आत्मा का निराकरण संभव नहीं है। आत्मा बाहर की चीज नहीं है वह स्वयं सिद्ध है। आत्मा प्रमाणों के द्वारा सिद्ध नहीं होती क्योंकि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का प्रयोग आत्मा अपने से भिन्न पदार्थों की सिद्धि में करती है। आत्मा तो प्रमाणादि व्यवहार का आश्रय है और प्रमाणों के व्यवहार से पहले ही सिद्ध है। आगन्तुक वस्तु का ही निराकरण होता है न कि अपने रूप का। यह आत्मा तो निराकरण करने वाले का ही अपना स्वरूप है। अग्नि अपनी उष्णता का निराकरण कैसे कर सकती है।[1]

ब्रह्म का ज्ञान वेदान्त शास्त्र से ही होता है। ब्रह्म के विषय में श्रुति मुख्य प्रमाण है। श्रुति-रत्न ऋषियों के बुद्धि-सागर के मन्थन से निकले हैं। श्रुतिवाक्य ऋषियों के ब्रह्मविषयक स्वानुभव की शाब्दिक अभिव्यक्ति हैं। अतः श्रुति को शब्द-ब्रह्म भी कहते हैं। यहाँ बुद्धि अपनी सीमाको जान लेती है और तत्व को अतीन्द्रिय, बुद्धिविकल्पातीत तथा अनिर्वचनीय जानकर उसे अद्वैत अपरोक्षनुभूतिगम्य मानती है। तत्वदर्शी ब्रह्मवेत्ता, आत्मवित ऋषियों के वाक्य ही ब्रह्म या आत्मा के विषय में प्रमाण हो सकते हैं। यद्यपि निर्विकल्प तत्व का बुद्धि विषय के रूप में ग्रहण और अनिर्वचनीय का पूर्ण निर्वचन सम्भव नहीं है तथापि निषेधमुख से निरूपण और शब्दों का सांकेतिक प्रयोग मुमुक्षओं की सहायतार्थ, अनिवार्य रूप से उपयोगी है। ब्रह्म रुपादि के अभाव के कारण अतीन्द्रिय है और लिङ्गादि के अभाव के कारण निर्विकल्प है। अतः प्रत्यक्ष और अनुमान का विषय नहीं है। अतः ब्रह्म के विषय में श्रुति ही प्रबल प्रमाण है।

---

(1) ब्रह्मसूत्र भाष्य, 2/3/7 ।

बुद्धि का तर्क दो प्रकार का है। श्रुत्यनुकूल तर्क सुतर्क है। श्रुतिप्रतिकूल तर्क, केवल वाद-विवाद या वितण्डा के लिए प्रयुक्त तर्क, कुतर्क है। सुतर्क ग्राह्य है कुतर्क अप्रतिष्ठित है। मतिवैरूप्यय और मतिविरोध के कारण कुतर्क अनवस्थित और भ्रान्त है।[1] श्रुतिवाक्य कुतर्क द्वारा मृषा नहीं किया जा सकता।[2] आमिषार्थी हिंसक जन्तुओं के समान तार्किकजन शुष्क वादविवाद में फँसकर परस्पर लड़ते-झगड़ते हैं।[3] ये आगमज्ञान रहित एवं दयनीय हैं। बिना सींग-पूछवाहां इन तार्किक-वृषभों के अनुमान कौशल का क्या कहना।

किन्तु सुतर्क या सुबुद्धि का व्यवहार में प्रभुत्व अक्षुण है। श्रुति का अर्थ बुद्धिमान व्यक्ति ही जान सकता है। यास्क मुनि के अनुसार जो व्यक्ति वेद रट लेता है, किन्तु उसका अर्थ नहीं जानता, वह केवल एक कुली की भाँति वेद का बोझा अपने सिर पर लादे फिरता है।[4]

शंकराचार्य केवल अन्धविश्वास के कारण श्रुति को मानने के लिए नहीं कहते। किसी भी गम्भीर दार्शनिक विषय पर वे श्रुति के उद्धरण से ही नहीं सन्तुष्ट नहीं हो जाते, अपितु उसके प्रतिपादन हेतु अकाट्य युक्तियाँ भी देते हैं।[5] यदि श्रुति का अन्य प्रमाण से विरोध हो तो उसकी विवेचना उस प्रमाण के प्रकाश में करनी चाहिए। श्रुति की अपेक्षा

---

(1) शारीरिक भाष्य - 2/1/11 ।

(2) श्रुतेर्वचनं न कुतर्किबुद्ध्या मृषा कर्तुं युक्तम् - छांदोग्य भाष्य - 8/12/1 ।

(3) प्रश्न भाष्य - 6/3 ।

(4) स्थाणुरयं भारहारः किलाभूत अधित्यवेदं विजयानाति योऽर्थम - वृह० भाष्य - 2/1/20 ।

(5) वाक्य निरपेक्षः स्वतन्त्रस्तदयुक्ति प्रतिषेधः क्रियते । - शारीरक भाष्य - 2/2/1 ।

युक्ति अनुभव के अधिक निकट होती है।[1] यदि सैकड़ों श्रुतियाँ भी अग्नि को शीतल और अप्रकाश बतायें तो भी अनुभव विरुद्ध होने के कारण उन्हें प्रमाणिक नहीं माना जा सकता।[2] व्यवहारिक जगत् में बुद्धि या सुतर्क की महत्ता स्वीकार्य है। व्यवहार में सुतर्क प्रतिष्ठित और प्रामाणिक है। यह नहीं कहा जा सकता कि तर्कमात्र अप्रतिष्ठित है, क्योंकि तर्क का अप्रतिष्ठितत्व भी तर्क द्वारा ही प्रतिष्ठित किया जाता है।[3]

तर्क या बुद्धि का साम्राज्य या सीमा व्यवहार तक ही सीमित है, परमार्थ तक उसकी पहुँच नहीं है। अत: बुद्धि अपनी सीमा का ज्ञान करके अपरोक्षानुभूति की ओर संकेत करती है जो ज्ञातृ-ज्ञेय-भेदरहित विशुद्ध चैतन्य है। यह नित्य चैतन्य ही अखण्ड आनन्द है। यह बुद्धि के अधिष्ठानभूत आत्मा का स्वरूप है जो स्वत: सिद्ध और स्वप्रकाश है। यह अद्वैतानुभूति ही ब्रह्म, आत्मा या मोक्ष है। ब्रह्मज्ञान का अवसान इसी स्वानुभव में होता है। यह स्वानुभव ही रहस्यवाद है।

---

(1) युक्तिरनुभवस्य सन्निकृस्यते । शारीरिक भाष्य - 2/9/4 ।

(2) न हि श्रुतिशतमपि शीतोऽग्निरप्रकाशो वेति ब्रुवत प्रामाण्यमुदैति - गीता भाष्य - 18/66 ।

(3) न हि प्रतिष्छितस्तर्क एव नास्तीति शक्यते वक्तुम ।
एतदपि तर्काणाम प्रतिष्ठितत्वं तर्केणैव प्रतिष्ठाप्यते शारीरक भाष्य - 2/1/17 ।

(ड.) हिन्दी काव्य साहित्य एवं रहस्यवाद :

हिन्दी साहित्य में रहस्यवाद कबीर, दादू आदि से समय से मिलता है। चौदहवीं पन्द्रहवी शताब्दी में भारतीय संतों द्वारा रहस्यवाद का प्रवर्तन मुख्यत: दो धार्मिक सम्प्रदाय के योग से हुआ। प्रथम सम्प्रदाय का नाम नाथपंथी था और द्वितीय सम्प्रदाय का नाम वैष्णव भक्ति था। संत लोग एक ओर तो नाथपंथियों के निर्गुण की उपासना स्वीकार करते थे किन्तु वे हठयोग की साधना पद्धति से बचना चाहते थे तो दूसरी ओर वे भक्ति आन्दोलन की भावनात्मकता को ग्रहण करना चाहते थे पर उसके सगुणवाद से दूर रहे। इस प्रकार नाथपंथियों का निर्गुण वैष्णव भक्ति के भक्तिभाव से मिश्रित होकर रहस्यवाद का आधार बन गया। हिन्दी साहित्य के काव्यगत रहस्यवाद और दर्शनगत रहस्यवाद में पर्याप्त अन्तर है। काव्य के रहस्यवाद में जहाँ भावना का प्राधान्य है वहाँ दर्शन के रहस्यवाद में ज्ञान का प्राधान्य है। काव्य का रहस्यवाद जहाँ हृदय से उद्भूत है वहीं दर्शन का रहस्यवाद मस्तिष्क की उपज है। कबीर, जयशंकर प्रसाद, महादेवी वर्मा आदि के रचनाओं में हिन्दी साहित्य की इन्हीं काव्यगत विशेषताओं से सुसज्जित रहस्यवाद का अवलोकन हमें प्राप्त होता है जिनका संक्षिप्त वर्णन निम्नवत् है –

कबीर का रहस्यवाद – कबीर जन्मजात रहस्य साधक थे। कबीर के निर्गुण ज्ञानमार्ग विशेष रूप से भारतीय ब्रह्मवाद व अद्वैतवाद से ग्रहित थे। ब्रह्म विचार में ज्ञान के साथ प्रेम का भी महत्वपूर्ण स्थान है। इस संबंध में कबीर की विशेषता यह है कि सामान्य रूप से भक्ति या प्रेम का संबंध सगुण ब्रह्मोपासना से होता है जबकि कबीर ने निर्गुण ब्रह्म उपासना प्रेम का योग किया है। कबीर का यह प्रेम तत्व सूफी साधकों के भावनात्मक रहस्यवाद या प्रेम तत्व से ग्रहीत है। जिसमें प्रेम और विरह की व्यापकता तथा विरह की

प्रधानता रहती है। कबीर ने अपने काव्य में निर्गुण निराकार ब्रह्म को अपना स्वामी मानकर और स्वयं को उनकी पत्नी स्वीकार करते हुए आत्मा और परमात्मा के बीच मधुर दाम्पत्य संबंधों की प्रतिष्ठा की है। इन प्रसंगों में प्रेम के विविध पक्षों की मार्मिक व्यंजना कबीर ने की है। कबीर की निम्नलिखित पंक्तियों में सूफियों के इसी प्रेमतत्व का प्रभाव है—

आषड़ियाँ झाँई पड़ीं, पंथ निहारि-निहारि ।
जीभड़ियाँ छाला पड़्या, राम पुकारि-पुकारि।।[1]

दुलहिनी गावहु मंगलाचार।
हम घरि आये हो राजाराम भरतार।।
तन रत करि मैं मन मन रत करि हौं पंचतत्त बाराती।
रामदेव संगि भाँवरि लै हौं, मैं जोवन मैं माती।।[2]

इसी प्रकार कबीर ने अनेक स्थलों पर मधुर दाम्पत्य भाव की अभिव्यक्ति की है। कहीं वे पति-पत्नी के रूप में परमात्मा और आत्मा के संयोगोल्लास का वर्णन करते हैं और कहीं-कहीं उनके विरह का और यह विरह भावना ही वास्तव में कबीर के प्रेम का मूल रूप है। इन सभी प्रसंगों में कबीर ने सूफी प्रेम तत्व स्वीकार किया है।

कबीर की काव्य रचनाओं में हठयोगियों के साधनात्मक रहस्यवाद की झलक देखने को मिलती है। हठयोग की साधना पद्धति के अनुसार योगी प्रणायाम की पूरक, कुम्भक और रेचक क्रियाओं द्वारा प्राणों का संयमन करता है। इस साधना पद्धति का मनुष्य के

---

(1) गुप्त डा० शान्ति स्वरूप : साहित्यिक निबंध, पृ० सं० - 558 ।

(2) वही ।

शरीर के अन्दर मूलाधार, स्वधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा ये छः चक्र माने गये हैं जिनकी बनावट विभिन्न दलों वाले कमल पुष्पों के समान हैं। इन छः चक्रों के ऊपर एक सहस्त्रांश्चक्र या सहस्त्र दल कमल कहा गया है। इन चक्रों के साथ ही मानव शरीर में तीन नाड़ियाँ सुषुम्ना, इड.ा, और पिंङ्गला कहा गया है। इन नाड़ियों का मूल मूलाधार चक्र है। इस मूलाधार चक्र में कुण्डलिनी सुप्तावस्था में पड़ी रहती है। योगी अपनी साधना से कुण्डलिनी को उद्भुत करती है जो क्रमशः छः चक्रों को वेदती हुई सहस्त्रारचक्र में प्रवृष्टि हो जाती है और तब योगी साधक को परम ज्योति का साक्षात्कार होता है। इस साधना द्वारा योगी मन का संयम करके ब्रह्म की अनुभूति करता है। कबीर ने इस साधना पद्धति को स्वीकार किया था और उनके काव्य में उसका उल्लेख स्थान-स्थान पर हुआ है। निम्न पंक्तियों में हठयोगियों मे इस साधनात्मक रहस्यवाद के अभिव्यक्ति कबीर ने की है –

हिंडोलना तहाँ झूले आत्मराम ।
प्रेम भगति हिंडोलना, सब संतनि कौ विश्राम ।।
चंद सूर दोइ खंभवा, बंक नाहि की डोरी।
झूले पंच पियारियाँ, तहाँ झूलैं जिय मोर।।

X X X

अरध उरध की गंगा जमुना, मूल कवल को धारा।
षट चक्र की गागरी, त्रिवेणीसंगम पार ।।[1]

---

(1) गुप्त डा० शान्ति स्वरूप : साहित्यिक निबंध, पृ० सं० - 557 ।

कबीर की काव्य रचनाओं में वैष्णव तत्व की झलक भी दृष्टिगोचर होती है। भगवान में विविध वैष्णवी नामों जैसे – राम, हरि, गोविन्द, मुकुन्द, विष्णु आदि का कबीर ने स्वच्छन्दता से प्रयोग किया है। इसी प्रकार ब्रह्म के निर्गुण और सगुण दोनों रूप कबीर को मान्य प्रतीत होते हैं, जो वैष्णव धर्म का तत्व है।

कबीर के 'राम' का स्वरूप आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दो में इस प्रकार है, "वह (ब्रह्म विचार) किसी भी दार्शनिकवाद के मानदण्ड से परे है, तार्किक बहस से ऊपर है, पुस्तकी विद्या से अगम्य है, पर प्रेम से प्राप्य है, अनुभूति का विषय है, सहज भाव से भावित है।"[1] कबीर का ब्रह्म निराला है, जैसा वह है। वैसा उसे कोई नहीं जानता, वह केवल अनुभवगम्य है - जस तूं तस तोहि कोई न जान। लोग कहैं सब आनहिं आन।

कबीर की दार्शनिक विचारधारा में भारतीय ब्रह्मवाद, हठयोगियों की साधना और सूफियों के प्रेमतत्व का समावेश मिलता है। रहस्यवाद के क्षेत्र में कबीर निस्संदेह अप्रतिम हैं।

जायसी का रहस्यवाद – जायसी के रहस्यवाद का आधार सूफी साधना पद्धति है। उनका मूलतत्व प्रेम की पीर है। जायसी ने 'इश्क मजाजी' (लौकिक प्रेम) को 'इश्क हक़ीकी' (आध्यात्मिक प्रेम) का प्रथम सोपान माना है। यही कारण है कि उन्होंने अपनी रहस्यवाद को अभिव्यक्ति प्रदान करने के लिए रतनसेन और पद्मावति के कथानक को अपनाया है और इस प्रकार लौकिक प्रेमकथा के माध्यम से आध्यात्मिक प्रेम की मनोरम व्यंजना की है। जायसी ने अपने लौकिक आवरण से सिद्ध किया है इसी कारण उनका

---

(1) गुप्त डा० शान्ति स्वरूप : साहित्यिक निबंध, पृ० सं० - 256 ।

रहस्यवाद अधिक सरस एवं हृदयग्राही बन गया है। उन्होंने आत्मा को पुरुष रूप में और ब्रह्म को स्त्री रूप में चित्रित कर आत्मा को परमात्मा से मिलने के लिए व्याकुल दिखाया है। पद्मावती के रूप में जायसी का ब्रह्म आलौकिक सौन्दर्य से सुसज्जित है। विश्व के सौन्दर्य का आदि स्रोत उसी ब्रह्म का सौन्दर्य है। विश्व के कण कण में उसी ब्रह्म की दिव्य ज्योति प्रतिबिम्बित है।

जयशंकर प्रसाद – प्रसाद एक उच्चकोटि के कवि हैं। उन्होंने अपने रहस्यवाद को कल्पना के इन्द्रधनुषी वर्णों में रंगा है। वस्तुत: उनके रहस्यवाद में अनुभूति की कमी और कल्पना का ही प्राधान्य है। यही कारण है कि उनका रहस्यवाद कबीर की भाँति हृदय को आंदोलित नहीं करता।

प्रसाद की निम्नांकित पंक्तियों में उस अव्यक्त परमसत्ता के प्रति जिज्ञासा का भाव देखा जा सकता है।

"महानील इस परम व्योम में
अंतरिक्ष में ज्योतिमीन,
ग्रह, नक्षत्र और विधुत्कण,
किसका करने से सन्धान ?
छिप जाते हैं और निकलते,
आकर्षण में सिंचे हुए,
तृण वीरुध लहलहे हो रहे,
किसके रस से सिंचे हुए ?
सिर नीचा कर किसकी सत्ता,
सब करते स्वीकार यहाँ ?
सदा मौन हो प्रवचन करते,
जिसका वह अस्तित्व कहाँ?"

रहस्यवाद की अन्तिम स्थिति मिलन मानी जाती है। इस स्थिति में पहुँचकर साधक की आत्मा अपने साध्य के साथ एकत्व का तादात्म्य अनुभव करने लगती है। उस स्थिति का चित्रण प्रसाद के इन पदों से होता है।

"हम अन्य न और कुटुम्बी, हम केवल हमीं हैं।
तुम सब मेरे अवयव हो, जिसमें कुछ नहीं कमी है!"

डा० गणपतिचन्द्र गुप्त के शब्दों में "प्रसाद के काव्य में आत्मा और परमात्मा की एकता पर आधारित रहस्यवाद कम है, लौकिक और अलौकिक प्रेम के मिश्रण की अस्पष्टता से उद्‌भूत रहस्यवाद अधिक है।"[1]

सुमित्रानन्दन पन्त – पन्त के रहस्यवाद में प्रकृत्ति की प्रधानता है। प्रकृत्ति का व्यापार जगत उन्हें आमंत्रित करता सा प्रतीत होता है –

"कनक-छाया में जबकि सकाल, खोलती कलियाँ उर के द्वार,
सुरभि-पीड़ित मधुपों के बाल, तड़प बन जाते हैं गुँजार,
न जाने ढुलक ओस में कौन
खींच लेता दृग मेरे मौन?"

पन्त के काव्य में रहस्य के नाम पर जिज्ञासा का भाव ही अधिक है।

महादेवी वर्मा – रहस्यवाद के क्षेत्र में महादेवी वर्मा का स्थान सर्वोपरि है। वे आदि से अन्त तक रहस्यवादी रही हैं। इस क्षेत्र में उन्हें बहुत अधिक सफलता मिली है। इनके

---

(1) गुप्त डा० शान्ति स्वरूप : साहित्यिक निबंध, पृ० सं० -299 ।

रहस्यवाद में प्रेम संबंधी वेदना का प्रमुख स्थान है। रहस्यवाद की प्रथम स्थिति अर्थात् जिज्ञासा की भावना महादेवी की इन पंक्तियों में दृष्टव्य है –

"शून्य नभ में उमड़ जब दुःख भार सी,
नैश तम में सघन छा जाती घटा
बिखर जाती जुगनुओं की पाँति भी
जब सुनहले आँसुओं की तार सी
जब चमक जो लोचनों को मूँदता
तड़ित की मुस्कान में वह कौन है?"

महादेवी की रहस्यवादी भावना की एक विशेषता यह है कि उन्हें मिलन क़ी अपेक्षा विरह ही अधिक प्रिय है। वे प्रियतम के वियोग में उसके मिलन के लिए सतत् साधना करती रहें यही उनकी चिर अभिलाषा है, इसलिए वे विरह को मिलन से कम महत्व नहीं देती।

उपरोक्त रहस्यवादी कवियों के काव्य विवेचन से हिन्दी-काव्य के रहस्यवाद में हमें निम्नलिखित प्रवृत्तियाँ देखने को मिलती हैं जैसे–प्रेमतत्त्व की व्यंजना, आध्यात्मिक तत्वों का प्राधान्य, रहस्यवाद की जागरूकता, परोक्ष सत्ता के प्रति आकर्षण, आत्म समर्पण की भावना रूपकों तथा प्रतीकों की योजना और मुक्तक गीति शैली।

रहस्यवाद में प्रेमतत्व का प्राधान्य है। रहस्यवादी की आत्मा अनन्त शक्ति के प्रति प्रेम में लीन होकर सदैव उससे मिलने को व्याकुल रहती है। रहस्यवादी कवि आत्मा को पत्नी एवं परमसत्ता को प्रियतम का रूप देकर आत्मा के प्रणय निवेदन की मनोरम व्यंजना करता आया है। प्रियतम परमात्मा के विरह में आत्मा की छटपटाहट और उसका

साक्षात्कार होने पर आत्मा के उल्लास एवं उन्माद को रहस्यवाद में प्रमुख स्थान दिया गया जाता है। रहस्यवादी कवि की केवल भावना ही परोक्ष सत्ता के प्रति उन्मुख हो ऐसी बात नहीं है। उसका तो सम्पूर्ण हृदय एवं सारी वृत्तियाँ ही उस ओर आकृष्ट हो जाती है। रहस्यवादी कवि की आत्मा परमात्मा से मिलने की आकांक्षा को लेकर उसकी ओर बढ़ती है।

रहस्यवाद में आत्मसमर्पण की भावना को प्रमुख स्थान मिला है। रहस्यवादी यह मानता है कि जब तक अहं का पूर्णरूपेण विलयन कर आत्मा अपने को प्रियतम के लिए अर्पित नहीं कर देती तब तक उसका प्रियतम के साथ मिलन सम्भव नहीं। जब रहस्यवादी अपनी अनुभूतियों को अभिव्यक्ति प्रदान करने के लिए सीधी-साधी भाषा को असमर्थ पाता है तब वह रूपकों और प्रतीकों के माध्यम से अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त करता है। कबीर, प्रसाद, निराला आदि सभी रहस्यवादी कवियों ने इसी शैली को अपनाया है।

चतुर्थ अध्याय

चतुर्थ अध्याय

कुछ प्रमुख भारतीय रहस्यवादी विचारक :-

(क) श्रीरामकृष्ण परमहंस

अत्याधुनिक भारतीय रहस्यवादियों में भी रामकृष्ण परमहंस का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। परमतत्व का साक्षात् साक्षात्कार का अनुभव इन्हें प्राप्त था। इनका दृढ़ विश्वास था कि किसी बात की सत्यता उसकी प्रत्यक्ष उपलब्धि पर ही प्रतिष्ठित है। धर्म और ईश्वर को सत्य मानने के लिए हमें उनका प्रत्यक्ष अनुभव करना चाहिए। इसी बात में विश्वास करके वे दिन प्रतिदिन रोते रहते और कहते : हे जन्मदाता । क्या यह सत्य है कि तुम्हारा अस्तित्व है अथवा यह सब काल्पनिक है? देवी दर्शन करने के लिए वे इतने तल्लीन हो गये थे कि उनका व्यक्तित्व ही सामान्य व्यक्तियों से हटकर हो गया था। देवी दर्शन की आस लिये वे जंगल चले गये और प्रतीक्षा करने लगे। जब भी वह मन्दिरों से घंटियों की आवाज सुनते तो द्रवित होकर कहते थे कि "हे माता ! आज का दिन भी व्यर्थ गया क्योंकि तूने दर्शन नहीं दिया। इस छोटे से जीवन का एक दिन और व्यतीत हो गया परन्तु फिर भी मुझे ईश्वर का ज्ञान नहीं हुआ।"[1] उसी वक्त परम विदुषी स्त्री ने उन्हें दर्शन दिया और सत्य की प्राप्ति में उनका मार्ग प्रशस्त किया। इस प्रकार श्री परमहंस ने यह सिद्ध कर दिया कि यदि ईश्वर के प्रति गहन जिज्ञासा और व्याकुलता हो तो उसका साक्षात्कार किया जा सकता है।

---

(1) सक्सेना डा० लक्ष्मी : समकालीन भारतीय दर्शन, तृतीय संस्करण 2002, पृ० सं० -38, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ ।

परमतत्व का साक्षात्कार साक्षात् अनुभव द्वारा किया जा सकता है। इस संबंध में परमहंस के तीन उपाख्यानों की चर्चा करना अपेक्षित होगा – (1) एक पंडित जी नौका पर सवार होकर नदी पार कर रहे थे। इसी बीच पंडित जी ने नाविक से पूछा कि क्यों भाई! तुम सांख्य, योग, मीमांसा, वेदान्त का ज्ञान रखते हो ? नाविक ने कहा– बाबा ! मुझे इन शास्त्रों का कोई ज्ञान नहीं है। जब नौका बीच नदी में पहुँची तो एक भयंकर तूफान आया। पंडित जी को तैरना नहीं आता था इसलिए वे घबड़ाये। नाविक ने कहा, मैं मीमांसा, वेदान्त तो नहीं जानता, पर नदी पार करना अवश्य जानता हूँ। इस उपाख्यान से स्पष्ट है कि केवल पुस्तकीय ज्ञान द्वारा हम संसार सागर को पार नहीं कर सकते। इसके लिए व्यावहारिक अनुभव की आवश्यकता होती है।[1] (2) श्री परमहंस ने तार्किकों एवं सिद्धान्तकारों की तुलना उस व्यक्ति से की है जो फल का रसास्वादन करने की अपेक्षा वृक्षों और टहनियों को गिनने में ही अपना समय बरबाद करता है।[2] (3) इसी प्रकार तर्क का खण्डन एवं अनुभव का मण्डन करने के लिए उन्होंने बुद्धिवादियों की तुलना एक ऐसे गिद्ध से की है जो आकाश में चाहे कितना ही उड़ जाये किन्तु उसका ध्यान सदा पृथ्वी की वस्तुओं पर ही लगा रहता है।[3]

उपरोक्त दृष्टान्तों से स्पष्ट है कि श्री रामकृष्ण सत्य का मानदण्ड साक्षात् अनुभव मानते हैं। उन्होंने समस्त रहस्यात्मक विषयों जैसे ब्रह्म, जीव, जगत पर अपने विचार

---

(1) श्रीरामकृष्ण उपदेश, मलापुरमठ, मद्रास 1960, पृ० सं० - 31 ।

(2) वही, पृ० सं० - 32 ।

(3) वही ।

व्यक्त किये हैं, इसी कारण वे रहस्यवादी कहे जाते हैं।

तत्व क्या है? इस संबंध में परमहंस जी कहते हैं कि ब्रह्म ही एकमात्र तत्व है। वह अपौरुषेय निरपेक्ष तत्व है। वह अनिर्वचनीय और अवर्णनीय है। ब्रह्म निर्गुण, अगतिशील, अचल एवं मेरुपर्वत की तरह दृढ़ है। वह शुभ और अशुभ दोनों से उसी प्रकार अतीत है जिस प्रकार कि दीपक का प्रकाश भगवत गीता पढ़ने के लिए और जालसाजी करने के लिए भी प्रयोग किया जा सकता है।[1] ब्रह्म एक सर्प के समान जिसके भीतर विष पर स्वयं सर्प उससे तनिक भी प्रभावित नहीं होता है। ठीक उसी प्रकार संसार में जो दुःख, क्लेश, पाप व अन्य प्रकार के अशुभ पाये जाते हैं वह ब्रह्म से परे अज्ञानी मनुष्यों के लिए हैं। ब्रह्म इनसे तनिक भी प्रभावित नहीं होता। ब्रह्म ज्ञान-अज्ञान, धर्म-अधर्म, मन-वाणी, धारणा-ध्यान, ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञान, सत्-असत् धारणाओं से भी अतीत है। ब्रह्म सगुण है या निर्गुण, श्री परमहंस ब्रह्म को सगुण-निर्गुण दोनों मानते हैं। जिस प्रकार एक व्यक्ति एक समय वस्त्रधारी रूप में और दूसरे समय में बिना वस्त्र धारण किये बिना दिखाई देता है उसी प्रकार एक ही ब्रह्म सगुण और निर्गुण एक ही दिखाई देता है।

भक्त को उसकी आस्था के अनुरूप ईश्वर कई रूपों में दिखाई पड़ते हैं। तत्व एक गिरगिट की तरह है जो भिन्न-भिन्न मनुष्यों को भिन्न-भिन्न प्रकार से दिखाई देता है। जिस व्यक्ति को गिरगिट का सम्यक ज्ञान नहीं है वह उनके भिन्न-भिन्न रूपों को भिन्न-भिन्न वस्तुओं के रूप में ग्रहण करेगा परन्तु जिन्हें गिरगिट के लाल, हरे, पीले इत्यादि सभी रूपों का ज्ञान है वह इन रूपों के विरोध की अपेक्षा सामंजस्य को विशेष स्थान देगा। इस

---

(1) श्रीरामकृष्ण उपदेश, मलापुरमठ, मद्रास 1960, पृ० सं० - 261 ।

प्रकार ईश्वर या ब्रह्म का कोई भी आकार नहीं है। भक्त उसे जिस भी रूप में देखना चाहते हैं, भगवान उसी रूप में उसके समक्ष प्रकट होते हैं।

जीव और जगत् के संबंध में परमहंस का कहना है कि ये ब्रह्म की ही दो अभिव्यक्तियाँ हैं। ये असद् हैं, क्योंकि जब ब्रह्म ही एकमात्र तत्व है तो उसके अतिरिक्त जो वस्तुएँ होंगी वे निश्चित रूप में असत् होगीं क्योंकि जीव और जगत् आकाशकुसुम की भाँति असत् नहीं है वरन् भ्रम की भाँति असत् है। जीव और जगत् को भ्रम कहने का वास्तविक तात्पर्य क्या है ? इस संबंध में श्रीरामकृष्ण ने कहा है कि जगत् कपूर के समान है। जिस प्रकार कपूर के जलने पर कुछ भी अवशेष नहीं रहता ठीक इसी प्रकार ब्रह्म साक्षात्कार होने पर जीव और जगत् का भी अवशेष विद्यमान नहीं रहता। जगत् ब्रह्म की भाँति अदृश्य हो जाता है।

यहाँ एक प्रश्न उठता है कि ब्रह्म और आत्मा ही एकमात्र तत्व हैं और ज्ञानस्वरूप हैं तो भ्रम की उत्पत्ति क्यों होती है? इसके उत्तर में तार्किक अद्वैतवादी कहेगा कि 'मुझे भी इसका ज्ञान नहीं है।'' वास्तव में यह प्रश्न ही अमान्य है। जब तक हम भ्रम से ग्रसित रहेंगे हमारा पृथक अस्तित्व बना ही रहेगा और वाह्य जगत हमारे लिए एक वास्तविक तत्व के रूप में ही सामने आयेगा। भ्रम में रहते हुए भ्रम के मूल कारण को नहीं जान सकते पर ब्रह्म साक्षात्कार के कारण भ्रम का निवारण होते ही जीव-जगत् का अस्तित्व ही समाप्त हो जायेगा। इस प्रकार भ्रम के मूल संबंधी सभी प्रश्न अमान्य हैं। ब्रह्म ही एकमात्र सत् है।

ब्रह्म की प्राप्ति के लिए श्रीरामकृष्ण ने साधना प्रणाली के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश

डाला है। श्रीपरमहंस के अनुसार सभी लोग साधना के अधिकारी नहीं हो सकते। सांसारिक या विषयासक्त लोग ब्रह्म या धर्म की भावनाओं को ग्रहण नहीं कर सकते। पवित्र हृदय वाले लोग जिनका हृदय सांसारिकता से दूषित नहीं हुआ है, वे ही साधना पथ के योग्य है। इस प्रश्न के उत्तर में कि पवित्र या वासनाशून्य हृदय कैसा होता है, उन्होंने कहा कि वासनाशून्य हृदय सूखी दियासलाई के समान होता है। सूखी दियासलाई एक बार घिसने से तुरन्त घिस जाती है परन्तु वह गीली हो तो घिसते ही टूट जाती है किन्तु जलती नहीं। इसी प्रकार सरल, सत्यनिष्ठ और निर्मल स्वभाव वाले को एक बार उपदेश देने से ही उनका मन परमतत्व के चरणों में लीन हो जाता है। विषयासक्त लोगों का इसका प्रभाव नहीं पड़ता।

श्री परमहंस ने सात्विक, राजसिक और तामसिक तीन प्रकार के साधकों का उल्लेख किया है। सात्विक साधक वे हैं जो विशुद्ध हृदय से निरहंकार होकर परमतत्व की आराधना करते हैं। राजसिक साधक वे हैं जो नृत्य, गान एवं वाह्य आडम्बर द्वारा ईश्वर की आराधना में विश्वास करते हैं। इसके विपरीत तामसिक अराधक वे हैं जो सैकड़ों निरपराध बकरे-बकरियों की बलि देकर देवी को प्रसन्न करने का प्रयत्न करते हैं। सात्विक साधक सर्वोत्तम प्रकार के साधक हैं।

श्रीपरमहंस के अनुसार संसार में रहकर जो साधना कर सकते हैं वे वास्तव में वीर साधक हैं जिस प्रकार कुलटा स्त्री अपने कुटुम्ब में रहते हुए गृहस्थी के सभी काम करती है पर उसका मन सदा उपपत्ति की ओर लगा रहता है उसी प्रकार साधक भी सांसारिक क्रिया-कलापों को करता हुआ भी मन को प्रति क्षण भगवान की ओर लगाये रख सकता है।

ज्ञान लाभ होने पर मनुष्य संसार में किस प्रकार रहता है? श्री परमहंस उत्तर देते हैं कि जिस प्रकार शीशे के घर में बैठने से मनुष्य को भीतर और बाहर दोनों ओर दिखाई देता है उसी प्रकार ज्ञानी मनुष्य को अन्दर और बाहर सर्वत्र सर्वव्यापी चैतन्य का ही बोध होता है, संसार का नहीं।

साधना के सहायक तत्व की चर्चा करते हुए परमहंस ने कहा है कि सहनशीलता, निष्कपटता, सत्संग, विनय, त्याग, अध्यवसाय, व्याकुलता, विवेक, ज्ञान, भक्ति, कर्म (निष्काम कर्म) साधना के सहायक तत्व हैं जिनसे ईश्वर प्राप्ति का मार्ग सुगम हो जाता है।

श्री परमहंस के अनुसार संसार में रहते हुए भी व्यक्ति मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। लोहे की तलवार को पारस से स्पर्श कराने से वह सोने की हो जाती है। उसकी आकृत्ति तो वैसी ही रहती है किन्तु उससे हिंसा का कार्य नहीं लिया जा सकता। इसी प्रकार भगवान के चरण-कमलों के स्पर्श से मनुष्य द्वारा फिर कोई अन्याय नहीं हो सकता। लोहा यदि एक बार पारस को छूकर सोना हो जाये तो चाहे उसे मिट्टी के भीतर ही क्यों न दबाये रख़िये वह़ सोना ही रहेगा। कुछ ऐसी ही अवस्था जिन्होंने परमतत्व को प्राप्त कर लिया है उनकी होती है। वे संसार में रहें या वन में रहें उन्हें दोष स्पर्श नहीं कर सकता।

श्री परमहंस जी ने पाँच प्रकार के सिद्ध पुरुषों का उल्लेख किया है। प्रथम, स्वप्न सिद्ध– स्वप्न में कोई व्यक्ति इष्ट मंत्र पाकर उसी को जप कर सिद्ध हो जाते हैं। द्वितीय, मंत्रसिद्ध– जो किसी सद्‌गुरु से मंत्र ग्रहण कर अपनी साधना द्वारा सिद्ध हो जाते हैं। तृतीय, हठात् सिद्ध– जो दैवयोग से किसी महापुरुष से कृपा लाभ कर सिद्ध होते हैं।

चतुर्थ, कृपासिद्ध– जो ईश्वरीय कृपा द्वारा सिद्धि प्राप्त करते हैं। पंचम, नित्यसिद्ध– जिनकी बचपन से ही धर्म में रुचि होती है।

परमहंस के अनुसार जिस प्रकार चपड़ा नील भ्रमर का चिन्तन करते-करते स्वयं भी नील भ्रमर बन जाता है उसी प्रकार जो परमतत्व का चिन्तन करता है वह स्वयं आनन्दमय हो जाता है।

मुक्त पुरुष संसार में कैसे रहते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए परमहंस कहते हैं कि पनडुब्बी चिड़िया के समान पानी में तैरती तो है किन्तु उसके शरीर पर पानी नहीं लगता। यदि कभी थोड़ा लगता भी है तो एक बार झाड़ देने से तत्काल सारा पानी गिर पड़ता है। इसी प्रकार मुक्त पुरुष की उपमा आँधी से उड़ी पत्तल से की गई है। उसकी अपनी कोई इच्छा या अभिलाषा नहीं होती हवा उसको उड़ाकर जिस ओर ले जाती है वह उसी ओर चली जाती है। सिद्ध पुरुष संसार के आवागमन से मुक्त हो जाते हैं। धान बोने से अंकुर पैदा होता है परन्तु उसी धान को सिद्ध करके (उबालकर) बोने से उससे अंकुर नहीं उगता। इसी प्रकार जो लोग सिद्ध हो गये हैं उन्हें इस संसार में जन्म नहीं लेना पड़ता। मुक्त अवस्था को परमहंस अवस्था भी कहते हैं। हंस को दूध और पानी मिलाकर देने से जिस प्रकार वह दूध पीकर जल छोड़ देता है उसी प्रकार परमहंस लोक संसार में सार-वस्तु सच्चिदानंद को ग्रहण कर असार वस्तु संसार को त्याग देते हैं। सिद्ध अवस्था द्वन्द्वातीत अवस्था है। वह अद्वैत अवस्था है जो परमानन्द की अवस्था है। यही परमहंस जी का रहस्यवाद है।

(ख) स्वामी विवेकानन्द

भारतीय रहस्यवादियों की एक महान विभूतियों के रूप में स्वामी विवेकानन्द का नाम भी उल्लेखनीय है। इस महान विभूति को नास्तिकता से आस्तिकता की ओर अग्रसर करने का श्रेय इनके गुरु परमहंस जी को जाता है। जिसके परिणाम स्वरूप वेदान्त को एक धर्म के रूप में स्थापित करने का इन्होंने सतत् प्रयास आरम्भ किया और भारतीय दर्शन के आध्यात्मवादी रूप को पुन: विश्व दर्शन के मंच पर प्रस्तुत कर दिया।

विवेकानन्द जी का तत्व दार्शनिक दृष्टिकोण बौद्धिक ज्ञान तक ही सीमित नहीं था बल्कि आत्मानुभूति की प्रबल शक्ति में उनका दृढ़ विश्वास भी था। यद्यपि वे अद्वैत मत की भाँति परमसत्ता को मानते हैं किन्तु सम्पूर्ण जगत् को ब्रह्म की अभिव्यक्ति बताते हुए उन्होंने अद्वैत मत की भाँति जगत् को मिथ्या नहीं माना। तत्व एक ही है और वह ब्रह्म है। वही ब्रह्म जब देशकाल निमित्त (कारण) के आवरण में दिखाई देता है तब उसे जगत् कहते हैं। देशकाल मन के परिवर्तन मात्र हैं। देश बाहर की वस्तुओं पर निर्भर करता हैं तथा काल बाहर की घटनाओं पर निर्भर करता है और निमित्त या कार्यकारण भाव की भावना इन्हीं देश और काल पर रहती है। अत: हम देखते हैं कि देशकाल निमित्त कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। हम यह भी नहीं कह सकते उनका कोई अस्तित्व है ही नहीं क्योंकि उन्हीं के माध्यम से ब्रह्म नाना रूपात्मक जगत् में प्रकाशित हो रहा है। जिस प्रकार समुद्र और उसकी तरंगों में अभिन्न संबंध है उसी प्रकार ब्रह्म और जगत् में भी अभिन्न संबंध है। इस प्रकार विवेकानन्द जी ने जगत् को पूर्णत: मिथ्या नहीं माना। वे विशुद्ध एकत्व को न मानकर बहुत्व में एकत्व का सिद्धान्त मानते है। यह सिद्धान्त वेदान्त का मूल स्तम्भ है। सत्ता के सातत्य में रुचि प्रकट करते हुए स्वामी जी ने भौतिक, चित्तीय, मानसिक,

नैतिक एवं तात्विक सभी दृष्टियों से तत्व को एक और केवल एक बताया है। मुख्यत : 'एकमेवाद्वितीयम ' के माध्यम से विवेकानन्द ने इस विरोध को दूर किया कि परमसत्ता अनेक है।

ईश्वर और जगत् से वही संबंध है जो हमारी आत्मा व शरीर में है। ईश्वर जगत् का सूक्ष्म व विभु रूप है तथा जगत् ईश्वर का स्थूल रूप है। ईश्वरानुभूति के समय सृष्टिकर्ता एवं सृष्टि के बीच सभी प्रकार के संबंध लुप्त हो जाते हैं। उस समय अभेद का ज्ञान होता है और यह अभेद-ज्ञान ही ईश्वरानुभूति है। ईश्वरानुभूति का विश्लेषण भौतिक तथ्यों की भाँति प्रस्तुत नहीं किया जा सकता क्योंकि यह एक प्रकार की अनुभूति है जिसका कोई स्थूल रूप नहीं है। व्यावहारिक जीवन में हमें सृष्टि की सत्यता एवं असत्यता का भ्रम अवश्य होता है किन्तु आत्मानुभूति के पश्चात् उपर्युक्त भ्रम विनष्ट हो जाता है। इसकी प्रामाणिकता विवेकानन्द ने आनुभविक दृष्टि से पुष्टि की। शंकर के समान व्यावहारिक दृष्टि से जगत् की सत्यता के प्रमाण में स्वामी जी ने अद्वैत प्रणाली को स्वीकार नहीं किया किन्तु पारमार्थिक दृष्टि से शंकर के ही पद्चिन्ह का अनुकरण किया है। इस संबंध में उनका मत है कि ईश्वर जो कि निरपेक्ष और एकमात्र सत्य है वह ससीम कैसे हो जाता है? इस संबंध में कहा जाता है कि विश्व ईश्वर का प्रतिविकास है तथा ईश्वर या ब्रह्म से जगत् किस प्रकार उत्पन्न हुआ आत्म-व्याघातक प्रश्न है। यह सोचना मात्र कि जगत् ईश्वर से उत्पन्न होता है ईश्वर को विषयीकृत करना है। ईश्वर आत्मा या विषयी नहीं है वरन् आत्माओं की आत्मा है। जो विषयी है वह ज्ञान का विषय कैसे हो सकता है ? अत: यह बात अज्ञात है कि ईश्वर से जगत् की उत्पत्ति किस प्रकार हुई?

मनुष्य के मन में यह जिज्ञासा रहती है कि ईश्वर क्या है ? इस जिज्ञासा की शांति

हेतु स्वामी जी ने ब्रह्मसूत्र के कथन "जन्माद्यस्यत:" का दृष्टान्त दिया है अर्थात् जिससे विश्व का जन्म, स्थिति और प्रलय होता है वही ईश्वर है। ईश्वर अनन्त, शुद्ध, नित्यमुक्त, सर्वशक्तिमान, अनिर्वचनीय एवं प्रेम स्वरूप है। ईश्वर के दो रूप हैं - निगुर्ण और सगुण। इन दोनों रूपों को समान रूप से ग्रहण करते हुए स्वामी जी ने इसको "एकमेवाद्वितीयम्" के कथन द्वारा समन्वित किया है। अत: उनकी यह विशिष्टता निर्गुण एवं सगुण के व्यापक भेद को समाप्त कर अभेद स्थापित करने में सफल सिद्ध हुई। स्वामी जी का कथन है "ब्रह्म का निर्गुण स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण प्रेम तथा उपासना के योग्य नहीं है और इसीलिए भक्त ईश्वर के सगुण भाव को ईश्वर मानकर उसकी उपासना करता है।"[1]

आत्मा के संबंध में स्वामी जी का दृष्टिकोण है कि आत्मा शुद्ध स्वभाव व पूर्ण है। सत्, चित,आनंद आत्मा का स्वरूप है। वह कार्यकारण संबंध से परे है। इसीलिए वह स्वतन्त्र या मुक्त स्वभाव है। वह नित्यमुक्त है। समस्त मानव जाति का लक्ष्य है आत्मा की पूर्णता अर्थात् परब्रह्म से साक्षात्कार प्राप्त करना। स्वामी जी ने इसे पुरुषार्थ के रूप में ग्रहण कर जीवन का चरम लक्ष्य माना है। दार्शनिक आत्मा को बंधन ग्रस्त मानते हैं तथा उसे मुक्त करके पूर्वस्वरूप ब्रह्म को प्राप्त किया जा सकता है। इस विश्वास के साथ दार्शनिकों ने विभिन्न मार्ग बताये हैं। विवेकानन्द आत्मा को बंधन ग्रस्त नहीं मानते। उनके अनुसार आत्मा की प्रमुख विशेषता स्वतन्त्रता है। वे यह मानते हैं कि यद्यपि आत्मा के अमरत्व के विषय में पूर्णरूप से वैज्ञानिक प्रमाण प्रस्तुत करना संभव नहीं है लेकिन इतना

---

(1) स्वामी विवेकानन्द : भक्तियोग, पृ० सं० - 11,
अद्वैत आश्रम, अल्मोड़ा, 1930 ।

अनुभव अवश्य किया जा सकता है कि यह तर्क एक अवैज्ञानिक तर्कवाक्य नहीं है। इसके प्रमाण के लिए उन्होंने शब्द प्रमाण प्रस्तुत करते हुए अमरत्व का अर्थ अमर्त्यशीलता बताया है। मृत्यु आत्मा का अन्त नहीं है बल्कि आत्मा अजर एवं अमर है। उसे आत्मानुभूति द्वारा जरामरण से मुक्त किया जा सकता है। इसके लिए उन्होंने योग की आवश्यकता पर विशेष बल दिया। यही योग मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करता है। बुद्धि की शक्ति इस उद्देश्य की पूर्ति में पूर्णरूपेण सक्षम नहीं है। यह आत्मा की अन्तरतम सत्ता द्वारा अनुभूति सर्जनात्मक रहस्य है। अत: अन्तर्दृष्टि द्वारा आत्मा की परिपूर्णता उपलब्ध हो सकती है। इस संबंध में स्वामी जी का मत है कि प्रत्येक मनुष्य का विकास उसके अपने स्वभावानुसार ही होना चाहिए। लक्ष्य और उसकी प्राप्ति के साधनों को मिलाकर 'योग' कहा जाता है। 'योग' संस्कृत शब्द है और इसके चार विभाग हैं – कर्मयोग, भक्तियोग, राजयोग और ज्ञानयोग। ये सभी योग अपने-अपने दृष्टिकोण से अच्छे हैं क्योंकि सभी एक ही केन्द्र ईश्वर की ओर ले जाते हैं।

स्वामी जी का कर्मयोग कर्मप्रधान व्यक्ति के लिए है। कर्मयोगी वही हो सकता है जो आसक्ति रहित और नि:स्वार्थ भाव वाला हो। मनुष्य अपने कर्म के द्वारा ईश्वरीय स्वरूप की अनुभूति करता है। विवेकानन्द का कथन है "कर्मयोग नि:स्वार्थता एवं सद्कार्यों के माध्यम से मुक्ति की एक नैतिकतापूर्ण एवं धार्मिक प्रणाली है। कर्मयोगी किसी सिद्धान्त विशेष में विश्वास की आवश्यकता नहीं समझता। वह यह नहीं पूछता कि उसकी आत्मा क्या है ? उसे अपनी नि:स्वार्थता की अनुभूति का विशिष्ट उद्देश्य प्राप्त करना है और उसे अपनी शक्ति से अधिक कार्यान्वित करना है।"[1] कर्मयोगी के लिए उसके कर्म का ही

(1) स्वामी विवेकानन्द : कर्मयोग, पृ० सं० - 131-132,
अद्वैत आश्रम, अल्मोड़ा , 1930 ।

महत्व होता है, कर्मफल में उसकी कोई आसक्ति नहीं होती इसलिए वह कोई बंधन ग्रस्त नहीं होता। यह सिद्धान्त गीता के निष्काम कर्मयोग के समान ही है।

भक्तियोग का प्रमुख ध्येय ईश्वर की प्रत्यक्षानुभूति है। प्रभु के प्रति आत्मसमर्पण संसार की समस्त सम्पत्ति, शक्ति, प्रतिष्ठा से भी श्रेष्ठ है। भक्त के चित्त की शान्ति जो भगवान की शरणागति से उत्पन्न होती है हमारी बुद्धि से अतीत तथा अमूल्य है।[1] स्वामी जी का भक्तियोग विश्वप्रेम को समाहित करता है। उनके अनुसार बिना समष्टि को प्रेम किए व्यष्टि को प्रेम नहीं किया जा सकता। सब प्रेमों का समष्टि स्वरूप ईश्वर है तथा मुक्त मुमुक्षु एवं बद्ध समस्त आत्माओं की आकांक्षाओं का समष्टि स्वरूप वही है तो किसी भी व्यक्ति में विश्वप्रेम की शक्ति उत्पन्न हो सकती है। भक्तियोग के विकास एवं परिणाम का उल्लेख करते हुए स्वामी जी ने कहा है "मनुष्य के हृदय में जो भावनायें तथा वासनायें उत्पन्न होती हैं वह स्वयं दूषित नहीं है वरन् बात इतनी ही है कि उनका धीरे-धीरे नियंत्रण करते हुए उन्हें शनैः शनैः उच्च ध्येय की ओर लगाते रहना चाहिए। जब तक परमोच्च दशा की प्राप्ति न हो जाये।"[2] अद्वैत वेदान्त के अनुसार जीवात्मा अपने को अभिव्यक्त करने का सतत् प्रयत्न करती है फिर भी वह ज्ञाता और ज्ञेय संबंध के प्रति सजग है। ज्ञाता को ज्ञेय रूप में प्रस्तुत करने के प्रयत्न ही असफलता के परिणाम स्वरूप जीवात्मा को वैराग्य हो जाता है और उसे मुक्ति मिल जाती है।[3]

---

(1) स्वामी विवेकानन्द : भक्तियोग, पृ० सं० - 98,
अद्वैत आश्रम, अल्मोड़ा, 1930।

(2) वही, पृ० सं० - 01,

(3) सक्सेना, डा० लक्ष्मी : समकालीन भारतीय दर्शन, पृ० सं० - 84-85।

भक्ति का वास्तविक स्वरूप है आत्मसाक्षात्कार या आत्मानुभूति। इस प्रकार भक्तियोग ईश्वर साक्षात्कार का सर्वाधिक सरल उपाय है। नारद सूत्र में भी इसी प्रकार का कथन मिलता है "भक्ति कर्म से श्रेष्ठ है और ज्ञान तथा योग से भी उच्च है क्योंकि इन सबका एक न एक लक्ष्य रहता ही है परन्तु भक्ति स्वयं ही साध्य तथा साधन स्वरूपा है।"[1]

भक्तियोग ब्रह्म से एकत्व प्राप्त करने के लिए सर्वाधिक व्यवस्थित मार्ग है। इस मार्ग में पूर्णता प्राप्त करने के लिए ईश्वर के प्रति प्रेम ही एक सारभूत वस्तु है। विवेकानन्द ने प्रेम की पाँच अवस्थाओं का वर्णन किया है। प्रथम अवस्था प्रेम की वह अवस्था है जिसमें मनुष्य सहायता चाहता है और इस कारण उसमें भय का अंश भी विद्यमान रहता है। द्वितीय अवस्था में मनुष्य ईश्वर को पिता के रूप में देखता हैं। तृतीय अवस्था में ईश्वर को माता के रूप में देखता है। इसमें संसार की सभी स्त्रियाँ माता के रूप में दिखाई पड़ती हैं। मातृदेवी की भावना से वास्तविक प्रेम आरम्भ होता है। चतुर्थ अवस्था में प्रेम, प्रेम के लिए किया जाता है। प्रेम सर्वगुणातीत है। पंचम और अन्तिम अवस्था प्रेम की वह अवस्था है जिसमें एकत्व अथवा पराचेतना प्राप्त होती है। यह दिव्य मिलन का प्रेम है। भक्तियोग ईश्वर साक्षात्कार का सर्वाधिक सरल उपाय है।

स्वामी जी ने राजयोग के संबंध में कहा है कि जो लोग रहस्यवाद के द्वारा इस योग का साधन करते हैं उन्हें राजयोगी कहते हैं। सहस्त्रों वर्षों से लोगों ने अपने जीवन मे अलौकिक घटनाओं का अलोकन किया है और उनके ऊपर चिन्तन कर कुछ साधारण तत्व निकाले हैं। इस समस्त चिन्तन और विचारों का फल राजयोग विद्या है। राजयोग

---

(1) नारद सूत्र, 25/30 ।

शिक्षा देता है कि यदि मनुष्य के भीतर नाना प्रकार के विकार हैं तो उन विकारों को दूर करने की शक्ति भी विद्यमान है। इसी शक्ति को जाग्रत कर मानव को उसका साक्षात्कार कराना राजयोग का लक्ष्य है। राजयोग के अभ्यास से मनुष्य को सूक्ष्मतर अनुभूति अर्जित होती है। राजयोग अष्टांग युक्त है। इन्हें यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि कहते हैं। इस प्रकार यह मन और शरीर को संयमित कर परम साक्षात्कार का सर्वसुलभ मार्ग प्रस्तुत करता है। यह ज्ञान योगियों द्वारा कथित संयम से भिन्न है क्योंकि इसका संबंध शरीर और मन से है। स्वामी जी मानते हैं कि पूर्ण साक्षात्कार तब तक संभव नहीं हो पायेगा जब तक शारीरिक क्रियाओं एवं आचरणों में विशुद्धता नहीं आयेगी। श्री बसंत कुमार लाल ने स्पष्ट शब्दों में कहा है – Vivekanand is aware that his method is not for the weak, as it requires an immenense faith in oneself and also physical and mental strength. It gradually enables the Yogi to acquire certain excilences and powers and finally the Yogi is able to practise complete concentration leading to the realisation of unity with the Divine.[1]

ज्ञानयोग में स्वामी जी की विशेष आस्था थी। प्रत्यके आत्मा अव्यक्त ब्रह्म है, इस महामंत्र का ज्ञान ही वास्तव में ज्ञानयोग की पराकाष्ठा है। वाह्य तथा अंत:प्रवृत्ति को वशीभूत कर आत्मा का यह ब्रह्म भाव व्यक्त करना ही जीवन का चरम लक्ष्य है। योग को एक विज्ञान के रूप में मान्यता देते हुए वह कहते हैं कि योग के विषय में यदि कोई गुप्त

---

(1) लाल वी० के० : कन्टेम्परेरी इण्डियन फिलॉसफी, पृ० सं० - 36, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1973 ।

या रहस्यमय बात हो तो उसे छोड़ देना चाहिए। रहस्य-व्यापार मानवीय मस्तिष्क को दुर्बल बना देता है। इसमें योग को जो कभी एक उच्चतर विज्ञान था बिल्कुल नष्ट कर दिया। वे बुद्धि को धर्म का आवश्यक तथ्य बताते हुए कहते हैं – "बुद्धि का अनुसरण करते हुए मानव मात्र को नास्तिक होना अच्छा है, पर किसी व्यक्ति के प्राधिकार के आधार पर अन्धविश्वास के रूप में करोड़ों देवताओं में विश्वास करना अच्छा नहीं है। मनुष्य का महत्व इस बात में है कि वह एक चिन्तनशील प्राणी है।"[1] स्वामी जी के अनुसार प्रत्येक धर्म बुद्धि या तर्क से परिपुष्ट होने से ही स्थायी हो सकता है। वे यही मानते थे कि बुद्धि द्वारा प्राप्त ज्ञान सैद्धान्तिक ही होता है। यह हमें पूर्ण सन्तोष प्रदान नहीं कर सकता। सैद्धान्तिक ज्ञान की अपेक्षा व्यक्तिगत साक्षात्कार का विशेष महत्व होता है। बुद्धि द्वारा हमें क्रमश: ज्ञान प्राप्त होता है पर हमारे जीवन में एक ऐसी शक्ति भी है जो अखण्ड रूप में हमें किसी वस्तु का ज्ञान प्राप्त कराती है और वह शक्ति है प्रेरणा। इसमें हमें तत्व का साक्षात् ज्ञान प्राप्त होता है। यह वस्तुओं को एक दिव्य दृष्टि के रूप में जान लेती है।

स्वामी जी चारों मार्गों के महत्व को समान रूप से स्वीकार करते हैं। संसार में विभिन्न प्रकार की मानसिकताओं के व्यक्ति विद्यमान हैं। प्रत्येक को अपनी योग्यता, शक्ति के अनुसार पूर्णता के अवसर इन चार मार्गों द्वारा प्राप्त होता है। जो जिस मार्ग के योग होता है वह उसे चुनता है और इस चुने हुए मार्ग के द्वारा ही उसके लिए तत्व साक्षात्कार का मार्ग उपलब्ध होता है।

---

(1) स्वामी विवेकानन्द : ज्ञानयोग पर निबंध, पृ० सं० - 38 ।

(ग) श्री अरविन्द

श्री अरविन्द एक ऐसे रहस्यवादी दार्शनिक थे जिन्होंने आधुनिक विश्व को विकासवादी आध्यात्मवाद से सुसज्जित किया। श्री अरविन्द ने वैदिक तथा औपनिषदिक ऋषियों से प्रेरणा ली तथा वेदान्त की परम्परा को विकसित किया। श्री अरविन्द के अनुसार परमतत्व ब्रह्म है जो नित्य, निरपेक्ष और अनन्त है। यह निर्विकल्प, अलक्षणीय और स्वतन्त्र है। यह विधिमुख और निषेधमुख दोनों से अनिर्वचनीय है। यह अज्ञेय नहीं है क्योंकि हमारा आत्मतत्व दिव्य ब्रह्म से अभिन्न है। ब्रह्म का सर्वोत्तम विधिरूप वर्णन सच्चिदानन्द है। यह निर्विकल्प और सर्विकल्प, निर्विशेष और सर्विशेष, निर्गुण और सगुण, एक और अनेक रूपों में अभिव्यक्त होता है तथा उनके पारगामी भी है।

श्री अरविन्द ने ब्रह्म के स्वचेतन को जो एकसाथ उसकी अभिव्यक्ति की शक्ति भी है 'अतिमानस' नाम दिया है। यह वह स्वचेतन सत् है जो अपने अविकृत और अविनश्वर तत्व को विनश्वर रूपों में प्रक्षिप्त करता है।[1] सच्चिदानन्द एक होते हुए भी आनन्दोल्लास के कारण, आत्मपरिसीमन, और आत्मव्यक्तिभावकरण की प्रक्रिया को अपने ऊपर आरोपित करके स्वयं को असंख्य आनन्दस्वरूप नित्य जीवों के रूप में अभिव्यक्त करते हैं। इन आनन्दस्वरूप जीवों को सच्चिदानन्द से अपने स्वाभाविक अद्वैत का ज्ञान सदैव रहता है। ये नित्य दिक्कालातीत और सृष्टि प्रक्रिया से अस्पृष्ट है। हम मानवों के ही वास्तविक जीवात्मा है किन्तु ये दिव्यलोक में ही रहते हैं तथा मर्त्यलोक में

---

(1) श्री अरविन्द : दि लाइफ डिवाइन (भाग-१), पृ० सं० - 177 ।

नहीं उतरते तथापि प्रत्येक दिव्य जीवात्मक मर्त्यलोक में अपनी एक दिव्य किरण भेजता है। इस किरण को ही अरविन्द ने चैत्यसत्ता का नाम दिया है जो जड़ और प्राण में भी अन्तर्निहित है। मानव में यह विकसित रूप प्राप्त करती है जिसे 'चैत्यपुरुष' कहा जाता है। यह चैत्यपुरुष मानव की अन्तरात्मा है जो अपने दिव्य जीवात्मा का प्रतिनिधि है जिससे यह सदा सम्पर्क बनाये रखता है चाहे मानव को इसका ज्ञान हो या न हो। जड़, प्राण और मनस इन तीनों साधनों को जो कि उपलब्ध हैं हमारी अन्तरात्मा परिष्कृत करके दिव्य जीवात्मा के ज्ञान और आनन्द की प्राप्ति कराना चाहती है किन्तु अति मानस की प्राप्ति से ही दिव्य जीवात्मा के ज्ञान और आनन्द का अनुभव संभव होता है।

दिव्य विकासवाद का सिद्धान्त श्री अरविन्द के दर्शन का केन्द्र बिन्दु है। श्री अरविन्द के अनुसार विकास प्रक्रिया के चार सोपान होते हैं – जड़ पदार्थ, जीवन, मन और अति मन। वस्तुत: विकास का प्रारम्भ जड़ पदार्थ से होता है क्योंकि पदार्थ के स्तर तक जाने पर परम चैतन्य को यह अनुभूति होती है कि आवरण या प्रच्छन्नता की प्रक्रिया अपनी पराकाष्ठा तक पहुँच चुकी है। अत: स्वयं चैतन्य ही पदार्थ को विकास के लिए प्रेरित करता है जिसके परिणामस्वरूप जीवन का उदय होता है। जड़ पदार्थ में चैतन्य का प्रकटीकरण सर्वप्रथम जीवन के माध्यम से ही होता है। तत्पश्चात् चैतन्य वनस्पति जगत् में स्वयं को अभिव्यक्त करता हुआ पशु जगत् में घूमता है। वहां पर वह अधिक स्वतंत्र हो जाता है एवं संवेदनशील शरीरधारी प्राणी में अपनी मानसिकता को प्रकट करता है किन्तु परम तत्व इस अवस्था में भी अंशत: ही संतुष्ट हो पाता है इसीलिए वह और भी ऊपर आरोहण करता है एवं स्वयं को स्वचेतन विश्लेषण प्रधान एवं विवेकशील मानव मन में व्यक्त कर देता है। अभी तक विकास इसी अवस्था तक पहुँचा है परन्तु श्री

अरविन्द का मानना है कि विकास के अगले चरण में चैतन्य अतिमन के स्तर तक अवश्य पहुँचेगा।

विकास का अगला चरण रूपान्तरण की त्रिविध प्रक्रिया द्वारा सम्पन्न होगा जिसे अरविन्द 'आत्मिक परिर्वतन', 'आध्यात्मिक परिवर्तन' और 'मानसोपरि' परिर्वतन की संज्ञा देते हैं।

आत्मिक परिवर्तन हमारे मानस या आत्मा पर ढके हुए आवरण को हटाना है। आत्मा में एक ऐसा दिव्यत्व होता है जो हमारे सांसारिक जीवन के समस्त अनुभवों के पश्चात् भी अशुद्ध बना रहता है किन्तु श्री अरविन्द आन्तरिक चेतना के लिए शुद्धता को ही पर्याप्त नहीं मानते वरन् यह भी जरूरी मानते हैं कि आत्मा का प्रकाश हमारे सम्पूर्ण अस्तित्व में प्रसारित हो और हमारे आन्तरिक जीवन, मन एवं पदार्थ में व्याप्त हो जाये। यह लक्ष्य आत्मिक परिर्वतन के द्वारा पूर्ण होता है। इस संबंध में श्री अरविन्द शिक्षा देते हैं कि हमें अपने संवेगों को शिक्षित करना चाहिये, क्योकि संवेगों के शिक्षण के द्वारा ही हम आत्मिक रूपान्तरण की आवश्यकता को महसूस कर सकते हैं। वास्तव में योग के प्रशिक्षण द्वारा ही हम अन्तर्वासी आत्मा को जागृत कर सकते हैं।

विकास की प्रक्रिया में आत्मिक परिवर्तन ही पर्याप्त नहीं होता वरन् आत्मिक परिवर्तन के द्वारा उसकी पूर्ति आवश्यक हो जाती है। आध्यात्मिक परिवर्तन का अर्थ है हमारे अंदर एक उच्चतर प्रकाश का अवरोहण। इस अवस्था का वर्णन करते हुए श्री अरविन्द कहते हैं– "दिव्य सत्ता की घनिष्ठ समीपता उसका जगत् के ऊपर, हमारे ऊपर और प्राकृतिक तत्वों के ऊपर शासन हमारे भीतर और हर जगह सक्रिय उसकी शक्ति,

असीम की शान्ति और उसका आनन्द ये सब अब हमारे मूर्त और स्थायी हो जाते हैं।, समस्त दृश्यों और रूपों में सनातन का, परमसत्ता का दर्शन होता है। प्रत्येक ध्वनि में उसी का नाद सुनाई पड़ता है, प्रत्येक स्पर्श में उसी का अनुभव लगता है।"[1] इस दृष्टान्त से स्पष्ट है कि आध्यात्मिक परिर्वतन के परिणामस्वरूप हृदय का आनन्द एवं प्रेम, समग्र सत्ता का आलिंगन, आत्मा की एकता ये सब शाश्वत सत्य बन जाते हैं।

इसके पश्चात् अति मानसिक परिवर्तन वह परिर्वतन है जो हमारे अतिमन तक आरोहण और तद्नुकूल अतिमन के भीतर अवरोहण द्वारा सम्पन्न होता है। श्री अरविन्द के शब्दों में– "वास्तविक रूपान्तरण के लिए ऊपर से प्रत्यक्ष और आवरण मुक्त हस्तक्षेप आवश्यक है। यह निम्न चेतना का सम्पूर्ण समर्पण और आनुगत्य है, उसके अपने अलग कर्म के नियम की इच्छा या आग्रह का पूर्णविराम है, जिसका रूपान्तरण द्वारा पूर्णतः अंत होता है, और हमारी सत्ता पर समस्त अधिकार समाप्त हो जाता है।[2] इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि श्री अरविन्द के अनुसार एक सीमा तक अवरोहण विकास के प्रत्येक चरण में आवश्यक है क्योंकि अवरोहण हुए बिना विकास संभव नहीं।

श्री अरविन्द के अनुसार अतिमानसिक परिवर्तन अन्य प्रकार के परिर्वतनों से इतना भिन्न है कि उसका वर्णन हमारी चेतना की सीमित क्षमताओं एवं हमारे भाषागत साधनों से भी परे है परन्तु फिर भी इतना अवश्य कहा जा सकता है कि अतिमानसिक परिर्वतन विस्मयकारी ऐश्वर्य और महानता के नये जीवन का सूत्रपात करेगा। यह एक नये जन्म

---

(1) श्री अरविन्द : दि लाइफ डिवाइन, पृ० सं० - 946 ।

(2) वही।

दिव्य जन्म का प्रतीक होगा। श्री अरविन्द ने ''आध्यात्मिक ज्ञान सम्पन्न प्राणी'' शब्द का प्रयोग लगभग 'अतिमानव' के अर्थ में ही किया है। आध्यात्मिक ज्ञान सम्पन्न मानव का सम्पूर्ण अस्तित्व आध्यात्मिकता की शक्ति से संचालित होगा। आध्यात्मिक ज्ञान सम्पन्न प्राणी अन्य व्यक्तियों की चेतना की क्षमताओं और रीतियों को स्वयं अपने व्यक्तित्व की क्षमताओं और रीतियों की तरह ही अनुभव करेगा। वह अपने व्यक्तिगत स्व के सम्पूर्ण संकल्प के साथ, अपने व्यक्तिगत कर्म के साथ सामंजस्य एवं सर्वव्यापक बोध में कार्य करेगा। सामान्यजन की भाँति वह अपने कष्टों से प्रभावित नहीं होगा क्योंकि उसे एक नवशान्ति और समस्त सुख-दुःख को परम् उदासीनता से देखने की क्षमता प्राप्त हो जायेगी। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि अतिमानसिक रूपान्तरण से ही श्री अरविन्द चरम स्थिति की कल्पना नहीं करते। इसका तात्पर्य यह है कि यद्यपि समस्त आध्यात्मिक ज्ञान सम्पन्न प्राणियों के जीवन की रूपरेखा प्रायः मिलती-जुलती होगी फिर भी विविधता समाप्त नहीं होगी। इसे स्पष्ट करते हुए श्री अरविन्द कहते हैं कि ''अतिमानसिक या आध्यात्मिक ज्ञान सम्पन्न प्राणियों की जाति एक ही प्रकार से बनी हुई एकमात्र स्थायी रूप से ढली हुई जाती नहीं होगी क्योंकि अतिमन का नियम है कि अनेकता में परिपूर्ण एकता और इसीलिए विश्व चेतना की अभिव्यक्ति अनन्त विविधता में होगी। यद्यपि अपने आधार में, अपने विधान में, अपने सर्व-उद्घाटक एवं सर्व-संयोजक क्रम में चेतना एक ही होगी।''[1] अतिमानसिक परिवर्तन हो जाने पर विविधता, प्रतिद्वंदिता या संघर्ष की प्रस्तावना नहीं बनेगी किन्तु वह सामंजस्य के एक प्रमुख सिद्धान्त

---

(1) श्री अरविन्द : दि लाइफ डिवाइन, पृ० सं० - 1034 ।

का कार्यक्षेत्र होगी। इस अवस्था में प्रकाश एवं अंधकार के बीच संघर्ष का स्थान अंधकार से अधिकतर प्रकाश प्रगति ले लेगी और एक श्रेष्ठतर जीवन व्यवस्था स्थापित होगी। इस प्रकार वस्तुतः आध्यात्मिक ज्ञान सम्पन्न प्राणियों के स्तर पर आरोहण मानव के लिए पृथ्वी पर दिव्य जीवन की स्थापना ही होगी। संक्षेप में श्री अरविन्द के विकासवाद के मुख्य बिन्दु निम्नवत् हैं :– प्रथम उसमें सर्वमुक्ति का आदर्श है, द्वितीय उसके अनुसार मुक्ति की अवस्था में शरीर, जीवन और मन का रूपान्तर होकर एक नये जीवन की प्राप्ति होती है और तृतीय मानव का दिव्यज्ञान सम्पन्न अतिमानव बनना ही विकास प्रक्रिया का प्रमुख लक्ष्य है। इस प्रकार विकासवाद के क्षेत्र में श्री अरविन्द का योगदान अनुपम है।

श्री अरविन्द बौद्धिक या मानसिक ज्ञान को परमसत्ता के साक्षात्कार के लिए उपयुक्त नहीं मानते। वे बौद्धिक ज्ञान से परे अतिमानसिक ज्ञान को प्राप्त करना ही सच्चा साक्षात्कार मानते हैं। श्री अरविन्द कहते हैं– "यदि बुद्धि हमारे लिए सर्वोच्च संभव ज्ञान का साधन हो और अतिभौतिक सत्य तक पहुँचने का और दूसरा कोई साधन न हो तो हमारी अन्तिम अभिवृत्ति एक व्यापक तथा बुद्धिसम्मत अज्ञेयवाद का होना अवश्यम्भावी है। सृष्टि की वस्तुएं कुछ अंश तक जानी जा सकती हैं परन्तु परम तत्व और मनस के परे सभी कुछ हमेशा के लिए अवश्य ही अज्ञेय रह जायेगा।[1] श्री अरविन्द के मतानुसार ससीम बुद्धि असीम सत्ता को धारण नहीं कर सकती है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि

---

(1) श्री अरविन्द : रिडिल ऑफ द वर्ड, पृ० सं० - 25-26,
आर्य पब्लिसिंग हाउस, कलकत्ता, 1946 ।

अरविन्द बुद्धि के विरोधी थे। परमसत्ता के साक्षात्कार के संदर्भ में उन्होंने बुद्धि को ससीम अवश्य कह दिया तथापि उसका विकल्प उन्होंने 'स्वानुभूति' द्वारा प्रस्तुत किया।

श्री अरविन्द के जीवन दर्शन पर उनके पूर्णयोग का भी अमिट प्रभाव है। उनका दर्शन बौद्धिक तर्कों पर ही नहीं वरन् योग की व्यावहारिक अनुभूति तथा यौगिक प्रकाश पर आधारित है। अरविन्द के पुर्ण योग का तात्पर्य उनके आध्यात्म योग या अधिमानसकीय योग से है। उनका मत है कि योग में व्यक्ति के सर्वांगीण विकास पर अर्थात् सभी शक्तियों तथा पक्षों के एकसाथ विकसित होने पर बल दिया जाता है । जड़ जीवन तथा मानस एकान्तिक रूप से इन सभी के माध्यम से आध्यात्मिक जीवन की प्राप्ति हो सकती है। श्री अरविन्द का सर्वांगीण योग प्रवृत्ति एवं निवृत्ति मार्गों में एक सामंजस्यपूर्ण समन्वय प्रस्तुत करता है। इसका लक्ष्य वे ब्रह्म में लीन हो जाना नहीं मानते वरन् वह पृथ्वी पर ही रोग, शोक, जरा-मरण से मुक्त अमृतमय दिव्य जीवन को विकसित करने के प्रयास को समाहित करता है। इस प्रयास में वे धर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग एवं राजयोग सभी की अनिर्वायता पर बल देते हैं। इन सभी मार्गों को वे वैदिक कहते हैं। वे इस बात को मानते हैं कि ज्ञान, भक्ति एवं कर्म में से किसी एक मार्ग पर योग अन्तःकरण से चलने पर अन्त में अन्य दो का भी लाभ हो जाता है। सर्वांगीण योग की न तो कोई निर्धारित विधि है और न कोई घिसा-पिटा अनुशासन का नियम ही है। यह स्वतः स्फूर्त आत्म-स्फुटन का परिणाम है।

अपने आध्यात्म योग को प्रस्तुत करते हुए वे स्पष्ट करते हैं कि इस योग का उद्देश्य

केवल अपने तक ही सीमित नहीं है वरन् सम्पूर्ण विश्व के दिव्य जीवन के अवतरण के लिए है। श्री अरविन्द के योग में व्यक्तिगत मोक्ष एवं आनन्द भी स्वीकार्य नहीं है। इस योग का आरम्भ व्यक्ति द्वारा अपने संकल्प के समर्पण द्वारा होता है। यही नहीं व्यक्ति अपने भीतर होने वाले परिवर्तनों के एक तटस्थता विकसित करनी चाहिए और अंतत: उसे सभी में ईश्वर की उपस्थित का स्पष्ट एवं सतत् अहसास भी होना चाहिए। इस अन्तिम अवस्था के अर्न्तगत भी श्री अरविन्द तीन अवस्थाओं को पृथक-पृथक प्रस्तुत करते हैं। प्रथम अवस्था में व्यक्ति को एक निर्वैयक्तिक सत् के रूप में उसका अहसास होता है—एक ऐसे सत् के रूप में, जो सम्पूर्ण जगत् की सर्वव्यापी पृष्ठभूमि का निर्माण करता है। दूसरी में, वह जगत् में व्याप्त सत् के रूप में अनुभूत होता है और अन्तिम अवस्था में साधक को यह सम्पूर्ण संसार उसकी दिव्यक्रीड़ा के रूप में दृष्टिगत होता है।[1] इस अवस्था को प्राप्त कर लेने के पश्चात् व्यक्ति के दृष्टिकोण में परिवर्तन होता है वह यह कि विश्व जो पहले अशिव रूप में लक्षित होता था अब 'शिव' रूप में रूपान्तिरित हो जाता है और व्यक्ति स्वयं अपने को भगवत शक्ति के प्रवाह का माध्यम, उसकी सक्रिय अभिव्यंजना का केन्द्र महसूस करने लगता है।

इस प्रकार श्री अरविन्द अपने आध्यात्म योग के विभिन्न आयामों को प्रस्तुत करते हुए गीता के सनातन योग के अपूर्व पहलुओं की अनेक विशिष्टताओं को प्रस्तुत करते हैं। गीता का 'सिद्ध' अथवा 'पूर्णपुरुष' ही उनके योग की परम उपलब्धि है।

---

(1) सक्सेना लक्ष्मी : समकालीन भारतीय दर्शन, पृ० सं० - 263 ।

(घ) सर्वेपल्ली राधाकृष्णन

समकालीन भारतीय चिन्तन में सर्वेपल्ली राधाकृष्णन 'धार्मिक-आध्यात्मवाद' के पक्षधर के रूप में जाने जाते हैं। उन्होंने धार्मिक अनुभूतियों के स्वरूप के कारण और साक्षात्कार के मार्ग में रहस्यवाद को स्वीकार किया है। उन्होंने इसे विज्ञान का विरोधी नहीं माना क्योंकि यह वैज्ञानिक विश्लेषण के स्वरूप पर आधारित है। राधाकृष्णन का मत है कि ''जब हम सत्ता का सहज ज्ञान बुद्धि और तर्क के द्वारा नहीं कर पाते तब उसे हम रहस्यानुभूति के माध्यम से अभिव्यक्त करते है। उनके अनुसार रहस्यवाद विचारों की अपूर्णता तभी है जब वह निषेधात्मक रूप में लिया जाता है।''[1] वास्तव में रहस्यवाद सर्वोत्कृष्ट अनुभूतियों का आवश्यक एवं सहज स्रोत है। इसकी अनुभूति तभी हो सकती है जब बौद्धिक एवं वैज्ञानिक विचारधारा अपने को सीमित अनुभव करती है। राधाकृष्ण इसे प्राय: धार्मिक अनुभूतियों में ही समाविष्ट करते हैं। कोई भी वैज्ञानिक विचारधारा उस समय अमान्य ठहरायी जा सकती है जब उसकी जगह किसी नवीन वैज्ञानिक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जाता है। राधाकृष्णन का तर्क है कि यदि यह सत्य है तो हम अपनी अनुभूतियों को अतीन्द्रिय मानकर उसी के द्वारा परमसत्ता का नित्य ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। सत्ता को हम सीमित शक्तियों द्वारा ज्ञेय नहीं बना सकते वरन जीवन एवं अनुभव के परिपेक्ष में वह अपरोक्ष रूप से अनुभव गम्य है। यह उनके विचार का रहस्यात्मक पक्ष है। उन्होंने इसे रहस्यानुभूति इसलिए बताया है कि यह पूर्णत: ग्रहण नहीं हो सकता है

---

(1) लाल वी०के० : कन्टेम्परेरी इण्डियन फिलासफी, पृ० सं० - 292।

फिर भी यह उसकी समस्त क्रियाओं का सारतत्व कहा जा सकता है। राधाकृष्णन ने रहस्यानुभूति का प्रयोग धर्म के एक विशिष्ट अर्थ में लिया। उनका इससे तात्पर्य है आध्यात्मिक समग्रता की प्राप्ति।

राधाकृष्णन धार्मिक अनुभूति के द्वारा ही परमसत् के ज्ञान को स्वीकार करते हैं। उनका कथन है "जो वास्तव में धार्मिक हैं वे आत्मा की सहज गहराइयों से प्रेरित होकर जीवन व्यतीत करते हैं, उनकी सहज उपलब्धियाँ विश्व के पुनर्निर्माण की आकंक्षा से नियन्त्रित नहीं होती। उनकी आस्था मूलत: जीवन को अतिक्रमण करने वाली है और फलत: जीवन को रूपान्तिरित भी करने वाली हैं।"[1]

राधाकृष्णन के अनुसार बुद्धि के स्तर पर जिसे हम मात्र एक 'अभ्युपगम' के रूप में स्वीकार कर पाते हैं, अनुभूति के स्तर पर वह अनुभूत सत् के रूप में साक्षात् उपस्थित होता है। इस अनुभूति के पश्चात् उसके अस्तित्व के विषय में अनास्था की कोई गुंजाइश ही नहीं रहती। अतएव आध्यात्मिक अनुभूतियों का आध्यात्मवाद का मूल निष्कर्षों की दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थान है।[2] धार्मिक अनुभूति स्वत:सिद्ध, स्वयंवेद्य और स्वप्रकाश है। शब्दों द्वारा इसका वर्णन न होने से यह अवर्णनीय है। परमसत् का स्वरूप यद्यपि एक ही है किन्तु अपनी मन:स्थिति एवं संस्कारों के अनुरूप विविध रूपों में उसे प्रस्तुत किया जाता है। जीवन के रहस्यपूर्ण पक्ष को स्वीकार करते हुए भी अज्ञेयवाद उसे अज्ञेय ही

---

(1) राधाकृष्णन : आइडियलिस्ट व्यू आफ लाइफ, पृ० सं० - 52,
जार्ज एलेन एण्ड उनविन, लन्दन, 1947 ।

(2) सक्सेना डा० लक्ष्मी : समकालीन भारतीय दर्शन, पृ० सं० - 195 ।

मानता है। इससे यह समस्या उत्पन्न होती है कि यदि सत्ता के अस्तित्व को दुर्बोध और अचिन्त्य स्वीकार किया जाये तो क्या यह उचित है? इसका समाधान प्रस्तुत करते हुए वेदान्त दर्शन की पुर्नव्याख्या की ओर उन्मुख हुए। उनका मत है कि बोध के किसी सामान्य से भिन्न आयाम में उसका साक्षात्कार संभव है इसके लिए उन्होंने धाार्मिक अनुभूति का आश्रय लिया। धार्मिक अनुभूति में हमें उसके अनुभवातीत स्वरूप की स्पष्ट झलक देखने को मिलती है।

राधाकृष्णन मानते हैं कि प्रमाणों के आधार पर ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि नहीं हो सकती। जब हमें अनुभूति के आधार पर उसकी उपस्थिति का एहसास हो जाता है तब उसकी युक्ति-युक्तता का स्थापन विभिन्न प्रमाणों के आधार पर सरलता से किया जा सकता है क्योंकि तब तर्क का कार्य प्रमाण प्रस्तुत करता नहीं अपितु निर्विशेष सत्य को सुनिश्चितता प्रदान करना है।[1]

ईश्वर के मंगलमय स्वरूप की स्वीकृति धार्मिक अनुभूति की अपनी विशेषता है किन्तु ईश्वर का यह स्वरूप कितना भव्य एवं हृदयग्राही क्यों न हो वह परमसत् के तात्विक स्वरूप की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति मात्र ही है। उक्त प्रतीक की महत्ता यह है कि उसके माध्यम से हम निर्विशेष सत् की ओर उन्मुख होते हैं। अन्य प्रतीकों की अपेक्षा वह उक्त सत्य के निकटतम है। इस निर्विशेष को राधाकृष्णन ने सर्जनात्मक-वैयक्तित्व के रूप में प्रस्तुत किया है। सर्जनात्मक-वैयक्तित्व एक अपूर्व समग्रता है जो एक से अधिक

---

(1) सक्सेना डा० लक्ष्मी : समकालीन भारतीय दर्शन, पृ० सं० - 210 ।

कलाकृतियों के सृजन की संभावना से संयुक्त है। इनमें से कौन किस समय और किस रूप में व्यंजित होती है इसके विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। किन्तु जब किसी कृति विशेष का सृजन हो जाता है तब उसका आधार हमें उसी सर्जनात्मक-वैयक्तित्व की अभिव्यक्ति विषयक मुक्त प्रेरणा में मिल जाता है और इस दृष्टि से उस अभिव्यक्ति विशेष के संदर्भ में वह निश्चित ही वह एक सविशेष मूल कारण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। किन्तु अनभिव्यक्त संभावनाओं के संदर्भ में वह निर्विशेष ही है जिसे अभिव्यक्त होकर अनेक रूपों में सविशेषता प्राप्त करना है।

राधाकृष्णन की निर्विशेष और सविशेष की व्याख्या में विश्व के मिथ्यात्व का बोध नहीं होता। इसमें विश्व की यर्थाथता के साथ ही ईश्वर की तथा उसके सविशेष रूप की यथार्थता को वे यह स्वीकार करते हैं। निर्विशेष तथा सविशेष विश्व से उनकी संबद्धता की व्याख्या के उपरान्त राधाकृष्णन विश्व के स्वरूप के संबंध में कहते हैं कि विश्व एक सुव्यवथित समग्रता है जिसमें विभिन्न घटक एक दूसरे से अभिन्न रूप से संबद्ध हैं। प्रज्ञा इन घटकों को विभिन्न इकाइयों में रूपान्तरित कर देती है और इनके इस रूप को बनाये रखने का प्रयत्न करती है किन्तु व्यावहारिक सफलता की दृष्टि से यह अपनी सार्थकता तो रखती है किन्तु पारमार्थिक दृष्टि से यह मनुष्य की अपनी प्रकृति के विपरीत है। इस प्रकार ईश्वरानुभूति का सशक्त माध्यम वे अन्त:प्रज्ञा को मानते हैं। अन्त:प्रज्ञा एवं प्रज्ञा के विवेचन से राधाकृष्णन ने विश्व दर्शन को दो भागों में विभाजित कर दिया है। पूर्व ने अन्त:प्रज्ञा और पश्चिम ने प्रज्ञा को ईश्वरानुभूति का माध्यम माना। पाश्चात्य दार्शनिकों के विचारों के संदर्भ में स्पष्ट हो जाता है कि प्रज्ञा की अपनी सीमायें हैं और उनकी

अवहेलना से ही दर्शन के क्षेत्र में अनेक भ्रान्तियाँ उत्पन्न होती हैं।

राधाकृष्णन के अनुसार दर्शन यदि सत् से संबद्ध ज्ञान है तो उसे प्रज्ञा की अपेक्षा अन्तःप्रज्ञा की अन्तिमता को मानना पड़ेगा। इसे वे चेतना के एक अपूर्व आयाम से संबद्ध मानते हैं। अन्तःप्रज्ञा के वास्तविक स्वरूप व क्रियाशीलता का कथन करते हुए उन्होंने लिखा है– "बौद्धिक मानव की परिपूर्णता कोई आध्यात्मिक उपलब्धि नहीं, बल्कि यह एक ऐसी अपूर्व शक्ति के प्रवाह को सूचित करती है जो बाहर से प्रवाहमान है और उसे अनुप्राणित कर रही है।"[1]

ईश्वरानुभूति के संदर्भ में जिन मार्गों से गुजरना पड़ता है उनमें भक्तिमार्ग प्रमुख है। यह मार्ग ईश्वरानुभूति का सशक्त माध्यम है। उनका कथन है "यह ईश्वर के प्रति भक्ति रखने एवं उसकी इच्छा के आगे अपने को समर्पित कर देने का कार्य है। आत्मिक जीवन का मुख्य केन्द्र हृदय है। आन्तरिक प्रार्थना द्वारा हम हृदय को ईश्वर के साथ मिलने के लिए समर्थ बनाते हैं।"[2]

उपर्युक्त आध्यात्मिक अनुभूतियों का अध्ययन राधाकृष्णन ने 'योगशास्त्र की भूमिका' से प्रारम्भ किया जिसमें ब्रह्मविद्या अर्थात् आध्यात्मिक अनुभूतियों के पश्चात् भक्ति व ध्यान अथवा योग आदि का मार्ग ग्रहण करना पड़ता है। इस अनुभूति के माध्यम से डा० राधाकृष्णन ने ईश्वर के प्रत्यक्ष दर्शन की संभावना को और अधिक पुष्ट किया।

---

(1) राधाकृष्णन : ईस्टर्न रिलीजन एण्ड वेस्टर्न थाट, पृ० सं० - 23-24।

(2) डा० राधाकृष्णन : सत्य की ओर, पृ० सं० - 145,
राजपाल एण्ड सन्स, नई दिल्ली, 1969।

(ड.) मुहम्मद इक़बाल

डा० मुहम्मद इक़बाल एक ऐसे रहस्यवादी दार्शनिक कवि थे जिन्होंने अपनी कलात्मक प्रतिभा का उपयोग आध्यात्मिक एवं उज्जवल भविष्योन्मुखी विश्व दृष्टि की स्थापना के लिए किया। इक़बाल ज्ञान को इन्द्रिय प्रत्यक्ष तक ही सीमित नहीं करते। अतीन्द्रिय सत्ता का ज्ञान अनुभूति के द्वारा संभव है। अनुभूति के द्वारा आत्मा का अस्तित्व, अमरता तथा ईश्वर का अस्तित्व ज्ञात होता है। इक़बाल की ही भाँति इस्लामी रहस्यवादियों यथा गज़ाली ने भी अनुभूति को भी वास्तविक ज्ञान माना था किन्तु इक़बाल अनुभूति को एक विशेष प्रकार का ज्ञान मानते हैं जो विचार एवं प्रत्यक्षानुभव से पूर्णतः भिन्न है। अनुभूति की यह धारणा उसकी प्रामाणिकता के विषय में संशय उत्पन्न करती है। संभवतः इसी कारण इक़बाल ने अनुभूति को प्रत्यक्ष तथा विचार की ही भाँति माना है। यह अनुभूति बुद्धि तथा प्रत्यक्ष से श्रेष्ठ है किन्तु इसकी विशेषता यह है कि अनुभूति होते हुए भी यह ज्ञानात्मक है और वैसे ही विषयगत है जैसे साधारण ज्ञान।

अनुभूति में सत्ता का प्रत्यक्ष अनुभव है। इसके द्वारा हम आत्मा तथा ईश्वर को इन्द्रिय प्रत्यक्ष की वस्तुओं की भाँति ही जानते हैं। अनुभूति बुद्धि द्वारा प्राप्त ज्ञान से भिन्न है क्योंकि बुद्धि अप्रत्यक्ष है। किन्तु अनुभूति में इन्द्रिय संवेदों का कोई स्थान नहीं है।

अनुभूति में सत्ता का ज्ञान सम्पूर्णता में होता है। इन्द्रिय एवं बुद्धि द्वारा प्राप्त ज्ञान आंशिक एवं खण्डित होता है। इसी प्रकार इन्द्रिय एवं बुद्धि द्वारा प्राप्त ज्ञान देश-काल में होता है किन्तु अनुभूति द्वारा प्राप्त ज्ञान वास्तविक काल में होता है। इस कारण यह क्रमहीन होता है।

अनुभूति हृदय का गुण है, इन्द्रियों और बुद्धि का नहीं इन्द्रियों और बुद्धि द्वारा केवल आभास का ज्ञान होता है। अनुभूति द्वारा वास्तविक सत्ता का।

अनुभूति असम्प्रेषणीय है। वैयक्तिक अनुभव होने के कारण भाषा द्वारा इसका निर्वचन नहीं किया जा सकता। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि इसकी कोई प्रामाणिकता संभव नहीं। अनुभूति की प्रामाणिकता के दो मापदण्ड इक़बाल मानते हैं - बौद्धिक और व्यावहारिक। इनके द्वारा ही अनुभूति की प्रामाणिकता सिद्ध की जा सकती है।

अनुभूति का विश्लेषण नहीं किया जा सकता। अनुभूति में अनुभवकर्ता निमग्न हो जाता है किन्तु यह निमग्नता केवल कुछ समय के लिए ही है। इस स्थिति में भी व्यक्तित्व का विलय नहीं होता।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि इक़बाल की अनुभूति संबंधी धारणा अन्य रहस्यवादियों की धारणा से भिन्न नहीं है। उनका मत है कि अनुभूति गुणात्मक दृष्टि से साधारण अनुभव से भिन्न है। किन्तु जब वे अनुभूति को भाषा एवं विचार की कोटियों से परे मानते हैं तो अनुभूति साधारण से श्रेष्ठ ही नहीं प्रकार में भी भिन्न हो जाती है। रहस्यवादियों की धारणा भी यही है। शंकर की तरह इक़बाल भी आत्मानुभूति के आधार पर ही ईश्वर के अस्तित्व को जाना जा सकता है ऐसा मानते हैं। उसी अनुभूति पर इक़बाल की तत्वमीमांसा आधारित है। अनुभूति से ही हम आत्मा का अस्तित्व, स्वतन्त्रता, क्रियाशीलता एवं अमरता का प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।

इक़बाल वाह्य जगत् को वास्तविक मानते हैं। वाह्य जगत् स्थिर, विकासरहित एवं

गतिशून्य सत्ता नहीं है। ईश्वर ने जगत् का निर्माण इस प्रकार किया है कि अपनी इच्छानुसार इसकी वृद्धि कर सकता है। हम वाह्य जगत् की वास्तविक व्याख्या अपने अनुभव के आधार पर ही कर सकते हैं। हम अपनी आत्मा को अनुभूति से जानते हैं। आत्मानुभूति के सादृश्य पर ही वाह्य जगत् की व्याख्या की जा सकती है। इसका अर्थ होगा आत्मा का वाह्य जगत् से तादात्म्य। अत: इक़बाल सादृश्य को ही इसकी व्याख्या का आधार मानते हैं।[1] इस प्रकार इक़बाल के अनुसार वाह्य जगत् को आत्मा के सादृश्य पर मानना चाहिये। सभी वस्तुयें 'परम-मैं-हूँ' की अभिव्यक्ति हैं। परमसत्ता आत्मा है और आत्मा से आत्माओं की ही अभिव्यक्ति होती है। प्रत्येक अणु आत्मा है। वाह्य जगत् कमोवेश रूप में विकसित आत्माओं का समूह है। जड़ तत्व निम्न स्तर वाले जीवों का समाज है जिससे उच्च स्तर का चेतना का विकास होता है। ईश्वर अपने को सान्त केन्द्रों में व्यक्त करता है अत: सभी वस्तुएं मूलरूप में आत्मा हैं और प्रकृति ईश्वर का स्वभाव है। मन और शरीर दोनों मूलत: एक ही प्रकार के हैं और इक़बाल का दर्शन आध्यात्मिक बहुत्ववाद है।

ईश्वर एवं मानवीय आत्मा के संबंध में इक़बाल का विचार है कि आत्मा का पृथक अस्तित्व बना रहता है। आत्मायें ईश्वर में विलीन नहीं होती। परम आत्मा इन आत्माओं में व्याप्त है किन्तु दोनों का पृथक भाव सदैव बना रहता है। इक़बाल के अनुसार रहस्यानुभूति में केवल कुछ समय के लिए व्यक्तित्व परम आत्मा इन आत्माओं में निमग्न

---

(1) सक्सेना डा० लक्ष्मी : समकालीन भारतीय दर्शन, पृ० सं० - 173 ।

होता है किन्तु इस समय भी उसकी समाप्ति नहीं होती। ईश्वर सृष्टि में व्याप्त भी है और उससे परे भी। इस प्रकार ईश्वर आत्मा से भिन्न और अभिन्न दोनों है। इसी संदर्भ में इक़बाल प्रार्थना के अर्थ एवं महत्व की व्याख्या करते हैं। धार्मिक चेतना उपास्य एवं उपासक के द्वैत में ही संभव है। प्रार्थना उपास्य एवं उपासक का गहनतम संबंध है। प्रार्थना चिन्तन का ही एक रूप है। प्रार्थना से ही हमारी भावनाएं उदात्त होती हैं और हमारे संकल्प को शक्ति मिलती है तथा ईश्वर से घनिष्ठतम संबंध स्थापित होता है।

(छ) रामचन्द्र दत्तात्रेय रानडे

रानडे को आधुनिक युग का महान रहस्यवादी कहा जाता है। रानडे की रहस्यवादी की प्रवृत्ति का ज्ञान उनके इस कथन से होता है जिसमें उन्होंने कहा है–"प्रारम्भ से ही आध्यात्मिक जीवन मेरा लक्ष्य रहा है, आशा है यही उपसंहार भी होगा।"[1] रानडे का बचपन ही ऐसे आध्यात्मिक वातावरण में व्यतीत हुआ जिसमें दार्शनिक संभावनाएं स्वयं इनके मन में जाग्रत हुईं। इस जाग्रति का क्रमशः विकास उनके रहस्यवाद की गहनतम् अनुभूतियों तक ले गया। रानडे पर स्वामी विवेकानन्द, संत तुकाराम, रामदास आदि के विचारों, ग्रन्थों एवं उपदेशों का प्रभाव पड़ा जिसके फलस्वरूप वह परम साक्षात्कार की ओर उन्मुख हुए। रानडे अपनी आध्यात्मिक प्रवृत्ति का श्रेय वैदिक एवं औपनिषदिक ऋषियों द्वारा प्रतिपादित मंत्रों एवं ऋचाओं को देते हैं। इनमें वह रहस्यवाद के बीच पूर्वनिहित मानते हैं।

---

(1) राधाकृष्णन : कन्टेम्परेरी इण्डियन फिलासफी, पृ० सं० - 545 ।

यद्यपि रानडे के रहस्यवाद का मूल स्रोत वेद और उपनिषद दर्शन ही है फिर भी उसके मूल तथ्य का प्रकटीकरण अपनी विशिष्ट साधनानुष्ठान एवं अंत:प्रकाश को नि:सृत कर कतिपय मौलिकता का समावेश अवश्य कर देता है। यह इनकी स्वयं की अन्तर्मुखी प्रवृत्ति का सद्परिणाम ही कहा जा सकता है। उपनिषदीय रहस्यवाद के उद्घाटनकर्ता एवं व्याख्याकार के रूप में रानडे सर्वप्रथम व्यक्ति कहे जा सकते हैं जिन्होंने वेद एवं उपनिषदीय विचारों को उन्हीं ऋषियों की ही दृष्टि से देखने का प्रयास किया जो उसके निर्माता थे। रानडे के शब्दों में भी यही कथन ध्वनित होता है– "रहस्यवाद औपनिषदिक दर्शन की परिपूर्णता है तथा यही सभी दर्शनों की परिपूर्णता है।"[1]

रानडे ने रहस्यवाद का अर्थ अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष अथवा आत्मा की सहज अनुभूति से लिया। इसमें दार्शनिक चिन्तन तथा नैतिक प्रयास की चरम सीमा प्राप्त होती है। इसमें सभी प्रकार की शंकाओं का निराकरण होता है। हृदय की ग्रन्थियां खुल जाती हैं। आत्मानुभूति के समय रहस्यवादी अपनी आध्यात्मिक यात्रा के अन्तिम छोर पर पहुँच जाता है जहाँ से पुन: वापस होने का भय समाप्त हो जाता है। इस समय वह अनन्तपूर्णानन्द के साक्षात्कार की अवस्था प्राप्त कर प्राणी मात्र के कल्याण के लिए चतुर्दिक दैवी संदेश वितरित करता है।

रानडे का आत्मा की अनन्त शक्ति में दृढ़ विश्वास था। उन्होंने आत्मा में ही परमात्मा का दर्शन संभाव्य बताया। उनकी मान्यता थी कि दृश्य तथा अदृश्य का बोध

---

(1) ले० रानडे अनु० रामानन्द तिवारी : उपनिषदों का रचनात्मक सर्वेक्षण, पृ० सं० - 65 ।

कराने वाले हमारे निर्धारित पैमाने एवं ज्ञानेन्द्रियाँ जब वस्तु की ही पूरी जानकारी नहीं दे पाती तो भला उस परमसत्ता की जानकारी किस प्रकार दे सकती है। अत: अंत:करण को ही आत्मानुभूति का आधार माना है।

रानडे ईश्वर का दर्शन प्रत्येक वस्तु में करते थे और ईश्वर में समस्त जगत् का दर्शन करते थे। यह उनके रहस्यवाद का अत्यन्त प्रभावपूर्ण पक्ष था जिसके आधार पर उन्होंने आजीवन दार्शनिक की अपेक्षा रहस्यवादी कहलाना उचित समझा। रानडे के अनुसार "अद्वैतवादी के लिए आत्मा से ब्रह्म और आत्मा से भिन्न कोई सत्ता नहीं है। आत्मा के किसी स्वरूप का ज्ञान उसकी पूर्णता का ज्ञान है, समस्त कारण सृष्टि का परममूल आत्मा ही है। आत्मा के अतिरिक्त प्रत्येक वस्तु माया है। आत्मा ही एकांतिक सत्तावान तत्व है और इसके अतिरिक्त किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं है।"[1]

रानडे ने मोक्ष के स्वरूप और उपयोगिता पर प्रकाश डालते हुए जीवन मुक्ति और विदेह मुक्ति को स्वीकार किया है। इसके अतिरिक्त वह सर्वमुक्ति सिद्धान्त की प्रतीक्षा करते हैं और वे सर्व मुक्ति के स्थान पर परिवार मुक्ति[2] का कथन करते हैं। एक मुक्ति व सर्वमुक्ति को पक्ष व विपक्ष मानते हुए उन्होंने परिवार मुक्ति को संभव माना। उनका कहना है कि आध्यात्मिक गुरु अपने को ही मुक्त नहीं करता वरन अपने साथ अपने शिष्यों तथा परिवार को भी मुक्त करता है। ईश्वर और मुक्त पुरुष के बीच भेद बताते हुए रानडे तीन

---

(1) ले० रानडे अनु० रामानन्द तिवारी : उपनिषदों का रचनात्मक सर्वेक्षण, पृ० सं० 149।

(2) रानडे : पाथ वे टू गॉड इन हिन्दी लिटलेचर, पृ० सं० - 264-65,
आध्यात्म विद्या मन्दिर, सांगली, 1954।

स्तर स्वीकार करते हैं। प्रथम-आत्मा का सगुण ब्रह्म से तादात्म्य, द्वितीय-आत्मा का निर्गुण ब्रह्म प्रतिबिम्ब रूप में और तृतीय परमानन्द की प्राप्ति।[1] रानडे आनन्द को ही परमतत्व मानते हैं। उनका मत है कि यदि केवल ज्ञान परमतत्व हो सकता है तो आनन्द जिसे शंकर परमानन्द कहते हैं परमतत्व क्यों नहीं हो सकता? भारतीय दर्शन के गहन अध्ययन के पश्चात उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि सम्पूर्ण भारतीय दर्शन वेद एवं उपनिषद दर्शन से ही निःसृत है और उपनिषद में यह स्पष्ट रूप से वर्णित है कि ''आनन्द से ही सभी भूत उत्पन्न होते हैं, आनन्द में ही जीवित रहते हैं और अंततः आनन्द में ही प्रवृष्टि हो जाते हैं।[2] इसी तथ्य पर रानडे आनन्द को ही परमतत्व मानते हैं। परमानन्द की उपलब्धि के संदर्भ में जिस मार्ग का उल्लेख उन्होंने किया उसे उन्होंने रहस्यानुभूति का मार्ग कहा जो रहस्यवाद की चरम परिणति है।

रानडे रहस्यानुभूति के मार्ग का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि इसमें ज्ञान, भावना और कर्म में से किसी एक का पूर्ण विकास होना नितान्त आवश्यक है। यदि तीनों का एक साथ विकास हो तो रहस्यवाद अपनी उत्कृष्टता प्राप्त कर उपासक को ईश्वर के अधिक समीप ला देता है। ज्ञान, कर्म और भक्ति इन तीनों मार्गों में भक्ति मार्ग को सर्वश्रेष्ठ और सरल मार्ग बताया। इस मार्ग के लिए सतत् ध्यान की आवश्यकता पर बल देते हुए इसे रहस्यानुभूति का प्रभावशाली स्रोत बताया। इसके लिए सद्गुरु की आवश्यकता पर

---

(1) कुलकर्णी वी०आर : ए क्रिटिकल एण्ड कन्सट्रक्टिव एक्सपेक्ट्स ऑफ रानडेज फिलासफी, पृ० सं० - 94, बेलगांव, 1974 ।

(2) तैतरीय उपनिषद, 3.6 ।

उन्होंने विशेष बल दिया। उनके अनुसार एक सच्चा गुरु साधक को ईश्वरानुभूति का लाभ दे सकता है। गुरु के तात्विक, नैतिक और रहस्यात्मक कार्यों का भी रानडे ने उल्लेख किया है। तात्विक कार्यों के अन्तर्गत उन्होंने धर्म के निराकरण तथा वैयक्तिक आत्मा का परमात्मा के साथ तादात्म्य स्थापित करने के कार्य को सम्मिलित किया। नैतिक कार्यों में इन्द्रियों पर अधिकार तथा बुरे विचारों का निराकरण सम्मिलित है। गुरु की असीम कृपा से साधक में अहं भाव का सर्वथा नाश हो जाता है और वह शरणागत की स्थिति में गुरु द्वारा बताये गये मार्ग को स्वीकार करने के लिए गुरु की आज्ञा की प्रतीक्षा करता है। इसी संदर्भ में गुरु साधक को आलौकिक एवं दैवीय स्थिति का अनुभव देता है। तत्पश्चात् साधक को असीम ज्ञान व आनन्द की प्राप्ति होती है।

रानडे ने उपासना के तीन रूपों की चर्चा की है। प्रथम रूप को प्रतीकोपासना, द्वितीय को गुणोपासना और तृतीय अहंग्रहोपासना नाम दिया। इन तीनों में साधक अपनी इच्छानुसार किसी भी रूप को चुन सकता है। इन तीनों रूपों को क्रमशः बौद्धिक पद्धति, नैतिक पद्धति और रहस्यात्मक पद्धति के नाम से अभिहित किया है। बौद्धिक पद्धति में उन्होंने ईश्वर विचार अथवा कल्पना की आवश्यकता बताते हुए इसे दार्शनिकों के लिए उपर्युक्त बताया। नैतिक पद्धति के लिए उन लोगों के लिए उपयुक्त बताया जो ईश्वर को नहीं मानते लेकिन नैतिक मूल्यों को मानते हैं। ऐसे व्यक्ति नैतिकता को ही परम धर्म मानते हैं। गुणों की उपासना से उनके अंदर उन गुणों की स्वयमेव स्थापना हो जाती है और यही आध्यात्मिक भावभूमि को सुदृढ़ बनाने में भी सहायक होती है। रहस्यात्मक पद्धति को रानडे सर्वोत्कृष्ट मार्ग बताते हुए कहते हैं कि यह एक ऐसा मार्ग है जो दार्शनिक अथवा नैतिकता प्रधान व्यक्तियों के लिए ही नहीं वरन् सभी के लिए सर्वसुलभ

है। यह विश्व के अनेकानेक भक्तों द्वारा पुष्ट मार्ग है। कोई भी व्यक्ति इस मार्ग पर चलकर ईश्वरानुभूति का लाभ प्राप्त कर सकता है।

ईश्वरानुभूति को रानडे एक व्यापक प्रक्रिया बतलाते हैं। इसके लिए अनुभव के पाँच सोपान उन्होंने बताये। प्रथम- आध्यात्मिक अनुभव को प्राप्त करने की प्रेरणा है, दूसरा- नैतिक तैयारी है, तीसरा- साधक और साध्य अर्थात् ईश्वर का संबंध है, चौथा- आध्यात्मिक यात्रा का शुभारम्भ है, पाँचवा सोपान चरम उपलब्धि का है जिसमें साधक सिद्ध हो जाता है तब उसे परमतत्व का साक्षात् दर्शन होता है एवं परमानन्द की प्राप्ति होती है।

रानडे की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे जिस तथ्य का मौन आनन्दानुभव करते थे उसी को दार्शनिक रूप भी देते थे। उनके अनुसार तत्व दर्शन मात्र दर्शन है जबकि रहस्यवाद दर्शन के अतिरिक्त स्पर्शन्, श्रवण, संभाषण, घ्राण और रसन् भी है। इस आत्मानुभूति की प्रक्रिया द्वारा ही रहस्यवादी को तत्व का अन्तर्दर्शन होता है। 'स्वानुभूति' द्वारा सिद्ध तत्वज्ञान दर्शन के द्वारा प्रपंचित नहीं किया जा सकता। यह तो स्वतः सिद्ध है। इसके लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। इसके लिए तो साधक की स्वानुभूति ही पर्याप्त है। रानडे रहस्यवाद की इस प्रक्रिया को इतना प्रभावकारी पाते हैं कि उन्होंने इसका प्रयोग तत्वमीमांसा, नीतिमीमांसा तथा ज्ञानमीमांसा के क्षेत्र में समान रूप से किया। डा० राधाकृष्णन ने उनके रहस्यवाद के विषय में कहा है कि "उनके लिए यह आत्मानुचिन्तन एक समर्पित जीवन को मार्ग है। चूंकि रहस्यवाद में अंतःप्रज्ञात्मक ज्ञान का उदय होता है अतः उनकी मान्यता है कि जो कुछ भी हम समझते हैं अथवा जिसकी

हमें अनुभूति होती है केवल ये ही हमारे दर्शन का निर्माण करते हैं।''[1]

रानडे के अनुसार आत्मानुभूति हमारी अन्तरात्मा का उद्भावन और प्रत्यक्ष दर्शन है न कि मनुष्य की प्रज्ञात्मक, भावात्मक और नैतिक आदि विविध अंत:प्रवृत्तियों का प्राणहीन तथा निस्सार अनुभव।[2] आत्मानुभूति के संदर्भ में उन्होंने वृहदारण्यक उपनिषद का कथन प्रस्तुत किया जिसमें बताया गया है कि आत्मा का दर्शन करना चाहिए, श्रवण करना चाहिए, मनन करना चाहिए, ध्यान करना चाहिए क्योंकि दर्शन, श्रवण, मनन और ध्यान से ही सब कुछ ज्ञात हो जाता है।[3]

स्पष्ट है कि रानडे एक रहस्यवादी दार्शनिक के रूप में हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं। उनकी रहस्यानुभूति उन्हें मुक्ति प्रदान करने के लिए पर्याप्त थी। इस आलौकिक अनुभूतियों को जितना उन्होंने आत्मसात किया उतना भाषा द्वारा प्रस्तुत नहीं कर पाये। इसी तथ्य के आधार पर उन्होंने स्पष्ट रूप से घोषित किया कि अनुभूति अथवा ईश्वर दर्शन केवल आत्मा की वस्तु है। वह तमाम भौतिक तथ्यों से परे एक असीम आनन्द की सहज उपलब्धि है। सच्चा आनन्द केवल आत्मदर्शन में मिलता है और वही ब्रह्म या निरपेक्ष सत् है।

---

(1) रानडे : द भगवत् गीता एज ए फिलासफी ऑफ गॉड रिलाइजेशन, पृ० सं० - 191, नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर, 1959 ।

(2) ले० रानडे, अनु० रामानन्द तिवारी : उपनिषदों का रचनात्मक सर्वेक्षण, पृ० सं० - 198 ।

(3) वृहदारण्यक उपनिषद, 2.4/2.5 ।

रानडे आत्मदर्शन में ही तत्वदर्शन और रहस्यवाद दोनों को समाहित कर लेते हैं क्योंकि दोनों में ही अपरोक्षानुभूति होती है। तत्वदर्शन और रहस्यवाद दोनों का साध्य भी एक ही है। अपनी चरम परिणति में दोनों एकाकार हो जाते हैं। कुछ दार्शनिक तत्वदर्शन को साध्य और रहस्यवाद को साधन मानते हैं किन्तु रानाडे का विचार है कि दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

●●●●●●

पंचम अध्याय

पंचम अध्याय

कुछ प्रमुख पाश्चात्य रहस्यवादी विचारक :-

(क) पाइथागोरस :

पाश्चात्य दार्शनिकों में पाइथागोरस मात्र एक शुद्ध दार्शनिक ही नहीं थे वरन् एक रहस्यवादी धर्म गुरु भी थे। पाइथागोरस का संख्या सिद्धान्त रहस्यवादी कहा जा सकता है। पाइथागोरस के अनुसार विश्व में समानुपात, व्यवस्था और सामंजस्य है और इनकी व्याख्या संख्या द्वारा स्पष्ट की जा सकती है। उदाहरण के लिए कहा जाता है कि अमुख व्यक्ति का शरीर सुडौल है तो इसे स्पष्ट करने के लिए उस व्यक्ति के शारीरिक अंगों-प्रत्यंगों के बीच सांख्यिक अनुपात बताकर उसके सुडौलपन की व्याख्या की जा सकती है। इसी प्रकार किसी कॉलोनी में क्रम को स्पष्ट करने के लिए सड़कों, घरों की दूरी इत्यादि के क्रम को संख्या के आधार पर स्पष्ट किया जा सकता है। बताया जा सकता है कि मुख्य सड़क बीस फीट चौड़ी है, गलियाँ बारह फीट और घरों की आपसी दूरी बीस फीट है। इसी प्रकार संगीत में निहित तालमेल को ताल, लय इत्यादि के द्वारा बताया जा सकता है।[1] यही कारण है कि पाइथागोरस के लिए विश्व का मूलतत्व संख्या ही है।

पाइथागोरस का संख्या सिद्धान्त रहस्यवादी कहा जा सकता है। पाइथागोरसीय रहस्यवाद में 'एक' संख्या को सर्वोच्च माना जा सकता था अन्य अंक क्रमशः कम सत्

---

(1) मसीह, याकूब : पाश्चात्य दर्शन का समीक्षात्मक इतिहास, पृ० सं०-22, पंचम संस्करण, नरेन्द्र प्रकाश जैन, मोतीलाल बनारसीदास, बंगलो रोड, नई दिल्ली ।

समझे जाते थे। पाइथागोरस के अनुसार सभी संख्याएं इकाई से निकली हैं क्योंकि सभी संख्या एक इकाई में विभाज्य हो सकती हैं। संख्याएं दो प्रकार की होती हैं– सम और विषम। पाइथागोरस ने सम संख्या को असीमित माना है क्योंकि इसे असंख्य रूप में विभाजित किया जा सकता है। इसके विपरीत विषम संख्या को सीमित कहा क्योंकि इसे विभाजित नहीं किया जा सकता।

पाइथागोरस दर्शन को 'सर्वोत्तम संगीत' कहते थे। जैसे संगीत में विविध स्वर एक ही तान को ध्वनित करते हैं वैसे ही दर्शन में सब पारस्परिक सिद्धान्त भिन्न होते हुए भी एक ही तत्व का राग अलापते हैं। पाइथागोरस ने 'स्वरूप' की प्रतिष्ठा की। स्वरूप अतीन्द्रिय, सामान्य और विज्ञान रूप है। अभेद, समन्वय और सामंजस्य इसी के कारण संभव होते हैं। गणित का विषय 'विज्ञान' है। इन्द्रियों द्वारा अनुभूत जगत् में जितने भी विभिन्न पदार्थ हैं वे सब विज्ञानों की क्षीण प्रतिकृति हैं। पाइथागोरस के इन विचारों का प्रभाव प्लेटो के विज्ञानवाद पर पड़ा।

पाइथागोरस सांसारिक वस्तुओं को भ्रमपूर्ण मानते थे। पाइथागोरस आत्मा को अमर मानते थे। सांसारिक वस्तुओं को भ्रम मानने के कारण ही इनकी ऐसी धारणा थी कि मानव को संसार से विरक्त होकर मोक्ष प्राप्त करना चाहिए। जब तक मुक्ति नहीं मिलती तब तक मानव जन्म-मरण के चक्कर में पड़ा रहता है। मानव जन्म-जन्मान्तर के आवागमन के कारण पशु योनि में जन्म लेता है। यह आवागमन दु:खपूर्ण माना गया है। इसलिए मानव का धर्म है कि वह आवागमन के चक्र से छुटकारा पा जाये। जन्म लेने का अभिप्राय है कि आत्मा शरीर युक्त हो किन्तु शरीर तो आत्मा की जेल है। अत: प्रश्न यह उठता है कि इस आवागमन के दैहिक जेल से कैसे मुक्ति प्राप्त की जाये। पाइथागोरस के अनुसार केवल रहस्यात्मक ध्यान योग के द्वारा मानव अपनी मुक्ति को प्राप्त कर सकता है। यह

ध्यान वास्तव में संवेगात्मक नहीं वरन् बौद्धिक कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त पाइथागोरस के रहस्यवाद में धार्मिक अनुष्ठानों और कर्मकाण्डों पर बल देकर सन्यासमूलक जीवनयापन की सलाह दी गई है।

पाइथागोरस ने तपस्या को नैतिक जीवन का आधार माना है। त्याग, तपस्या और संयम से परिपूर्ण जीवन को महत्व दिया। कर्मवाद में उनकी अटल श्रद्धा थी। उनका मानना था कि पूर्व में किये गये कर्मों से यह जीवन बना है और इस जन्म के कर्म पुनर्जन्म के स्वरूप का निर्माण करेंगे। मनुष्य को अपने द्वारा किये गये शुभ-अशुभ कर्मों का भोग अवश्य भोगना पड़ता है। परमतत्व के रहस्य को जानने हेतु गुरु शिष्य के साक्षात् सम्पर्क को वे बहुत महत्व देते हैं। सच्ची विद्या गुरु कृपा से ही प्राप्त होती है। संसार जन्म-मरण का चक्र है। इसी जन्म-मरण रूपी चक्र से छुटकारा पाना मानव जीवन की सार्थकता है। यह ज्ञान से ही संभव हो सकता है। दर्शन ज्ञान का प्रेम है। असली ज्ञान तटस्थ दृष्टा का ज्ञान है। पाइथागोरस के अनुसार निर्लिप्त होकर इस जगत् में साक्षी के समान रहना सर्वोत्तम है। इस संदर्भ में पाइथागोरस एक दृष्टान्त देते हैं "ओलम्पिक खेलों में तीन प्रकार के मनुष्य आते हैं। प्रथम वे जो केवल क्रय-विक्रय करने आते हैं, द्वितीय वे जो खेल में भाग लेते हैं और तृतीय वे हैं जो केवल दर्शक बन कर जाते हैं। इसी प्रकार इस जीवन में भी तीन श्रेणियों के लोग हैं जो केवल क्रय-विक्रय करते हैं वे निम्न श्रेणी के हैं, जो इस जीवन के खेल में सक्रिय भाग लेते हैं वे मध्यम श्रेणी के हैं, जो केवल तटस्थ दृष्टा हैं वे उत्तम श्रेणी के हैं। उन्हीं को क्रमशः धन के प्रेमी, यश के प्रेमी और ज्ञान के प्रेमी कहा जाता है। ज्ञान का प्रेमी होना अर्थात तटस्थ दार्शनिक होना सर्वोत्तम है।[1]

(1) शर्मा, सी० डी० : पाश्चात्य दर्शन, पृ० सं०-4,
नवम संस्करण, नरेन्द्र प्रकाश जैन, मोतीलाल बनारसीदास, बंगलो रोड, नई दिल्ली, 1992।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि पाइथागोरस एक रहस्यवादी दार्शनिक के रूप में हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं क्योंकि उन्होंने रहस्यात्मक विषयों यथा संख्या को परमतत्व माना, पुनर्जन्म में उनका विश्वास, आत्मा की सत्ता में उनकी अटूट आस्था, मुक्ति, ध्यान, साधना आदि विषयों पर उनकी चर्चा उनके रहस्यवादी दृष्टिकोण को व्यक्त करती है।

(ख) प्लेटो

प्लेटो प्रधान रूप से रहस्यवादी हैं। उनके लिए दर्शन जीवन का अंग है। दर्शन का लक्ष्य तत्व का निर्विकल्प साक्षात्कार है। आत्मा को इन्द्रियानुभूति से ऊपर उठाकर तर्क के सविकल्प स्तर पर होते हुए निर्विकल्प स्वानुभूति तक ले जाना दर्शन का मुख्य उद्देश्य है। दर्शन का लक्ष्य असत् से सत् की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर, मृत्यु से अमरत्व की ओर जाना है। यह साधना द्वारा हो सकता है। तर्क तत्व की ओर संकेत मात्र करता है। तत्व का साक्षात्कार साधना का विषय है। इसलिए प्लेटो ने गुरु और शिष्य के साक्षात् सम्पर्क को इतना महत्व दिया। प्लेटो के अनुसार दार्शनिक का लक्ष्य शान्तिमय साधना द्वारा निर्विकल्प अनुभूति प्राप्त करना है।

प्लेटो का महत्वपूर्ण सिद्धान्त उनका 'विज्ञानवाद' है। प्लेटो के अनुसार परमतत्व विशुद्ध विज्ञान स्वरूप शिवतत्व है, जो केवल स्वानुभूति का विषय है। सविकल्प तर्क द्वन्दात्मक और निषेध प्रधान है। तर्क का कार्य अपने विकल्पों का खण्डन करके निषेध रूप से यह सिद्ध करना है कि उसकी गति तत्व तक नहीं है। यह तत्व की ओर संकेत मात्र करके निर्विकल्प अनुभव की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा देता है। द्वन्दात्मक तर्क

रूपी दर्शन 'विज्ञानों का विज्ञान' है क्योंकि जहाँ अन्य विज्ञान समाप्त होते हैं वहाँ से इसका प्रारम्भ होता है। जब इस दर्शन का तर्क रूपी निषेध रूप समाप्त होता है तब निर्विकल्प अनुभव रूपी विधान रूप प्रारम्भ होता है। यह शिव तत्व की साधना है जो दर्शन का चरम लक्ष्य है।

प्लेटो ने विज्ञानों को शिव तत्व की अभिव्यक्ति मात्र माना है। प्लेटो के विज्ञानों पर हम पाँच दृष्टिकोणों से हम विचार कर सकते हैं। प्रथम, ज्ञान की दृष्टि से, द्वितीय स्वरूप की दृष्टि से, तृतीय उद्देश्य की दृष्टि से, चतुर्थ सत्ता की दृष्टि से और पंचम रहस्य की दृष्टि से।[1]

ज्ञान की दृष्टि से विज्ञान ही ज्ञान के वास्तविक विषय हैं। प्लेटो के अनुसार ज्ञान और ज्ञान का विषय दोनों नित्य और अपरिणामी होने चाहिए। विज्ञान नित्य और असंदिग्ध है। विज्ञान स्वत:सिद्ध है। यदि विज्ञान का नित्यत्व और स्वत:सिद्धत्व स्वीकार नहीं किया जाये तो किसी प्रकार का ज्ञान संभव नहीं हो सकता।

स्वरूप की दृष्टि से विज्ञान 'सामान्य' हैं। सामान्य का कार्य सजातीय विशेषों में एकरूपता लाना और उनका विजातीय विशेषों से भेद करना है। सामान्य अनेक विशेषों में अनुगत एकता है। यह भेद से विशिष्ट अभेद है। इसकी वास्तविक सत्ता है। सामान्य विज्ञान जगत् में रहते हैं। इन्द्रिय जगत् में इनकी क्षीण प्रतिक्रिया ही मिलती है। सामान्य विशेषों में अनुस्यूत रहता है अत: यह कहा जाता है कि विशेष 'सामान्य' में भाग लेते हैं। विशेष सामान्य के प्रतिरूप हैं या प्रतिबिम्ब हैं। ये सामान्य दिव्य विज्ञान लोक में रहते

(1) शर्मा, सी० डी० : पाश्चात्य दर्शन, पृ० सं० - 25 ।

हैं जहाँ अमर आत्मा इनका साक्षात्कार करती है।

उद्देश्य की दृष्टि से विज्ञान वे 'नित्य साँचे' हैं जिनके प्रतिबिम्ब या प्रतिरूप इन्द्रिय जगत् के पदार्थ हैं। सांसारिक पदार्थ इन आदर्शों के अनुरूप होने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु वे इसमें पूर्ण सफल नहीं हो सकते। विश्व के समस्त पदार्थ अपूर्ण और अनित्य हैं। विश्व की सृष्टि इसीलिए हुई कि इसके अपूर्ण और अनित्य पदार्थ पूर्ण आदर्शों को प्राप्त करने के लिए उत्तरोत्तर विकसित हों। विश्व में विकास हो रहा है किन्तु यह विकास यंत्रवत नहीं है, उद्देश्यपूर्ण है। विज्ञान विश्व के पदार्थों में अनुस्यूत हैं। विज्ञान विश्व के पदार्थों के वास्तविक 'स्वरूप' हैं और समस्त सृष्टि अपने 'स्वरूप' का लाभ करने के लिए विकसित हो रही है। विश्व में सामंजस्य हैं, समन्वय है, एकरूपता है और प्रत्येक पदार्थ, भिन्न होते हुए भी इस अन्तर्यामी अभेद को पाने के लिए प्रयत्नशील है।

प्लेटो के अनुसार ईश्वर इस विश्व के निमित्त कारण हैं और विज्ञान इस विश्व के स्वरूप कारण हैं। विज्ञान रूपी नित्य बिम्बों को आदर्श मानकर ईश्वर उनके अनुरूप सृष्टि के पदार्थों की रचना करते हैं। क्या ये 'नित्य बिम्ब' ईश्वर के बाहर हैं? क्या यह 'नित्य बिम्ब' सांसारिक पदार्थों के बाहर हैं? दोनों प्रश्नों का उत्तर नकारात्मक और स्वीकारात्मक दोनों है, क्योंकि प्लेटो ने विज्ञान को 'अन्तर्यामी' और 'पर' दोनों माना है। प्रथम प्रश्न का उत्तर है - प्लेटो ने ईश्वर और शिवतत्व को भिन्न माना है। ईश्वर सगुण है, शिवतत्व निर्गुण। ईश्वर अपर है, शिवतत्व पर। ईश्वर सृष्टि के निमित्त-कारण और नियन्ता है, शिवतत्व ईश्वर का भी पिता है। समस्त विज्ञानों और सृष्टि में शिवतत्व अन्तर्यामी है। और वह इन सबसे पार अनिर्वचनीय भी है। समस्त ज्योति उसी से आती है। वही सृष्टि का मुख्य उद्देश्य या लक्ष्य है। वह ईश्वर का भी ईश्वर और विज्ञानों का भी विज्ञान है। ईश्वर विज्ञानों के अनुरूप सृष्टि करते हैं। इस अर्थ में ईश्वर विज्ञानों से 'बद्ध' है और

विज्ञान ईश्वर के 'बाहर' है। किन्तु ईश्वर और विज्ञान दोनों ही शिवतत्व की अभिव्यक्ति है। शिवतत्व विशुद्ध विज्ञान-स्वरूप है और ईश्वर तथा विज्ञान दोनों इसी के आभास हैं। इस दृष्टि से ईश्वर और विज्ञान भिन्न नहीं है और विज्ञानों को ईश्वर के 'बाहर' नहीं माना जा सकता। द्वितीय प्रश्न का उत्तर यह है नित्य विज्ञान सांसारिक पदार्थों में अनुस्यूत हैं और इस दृष्टि से उनके 'बाहर' नहीं है। किन्तु सांसारिक पदार्थ नित्य विज्ञानों को सीमित नहीं कर सकते, नित्य विज्ञानों की सत्ता सांसारिक पदार्थों से स्वतन्त्र है। इस दृष्टि से विज्ञान सांसारिक पदार्थों के 'बाहर' हैं।

नित्य विज्ञानों को प्राप्त करना हमारा उद्देश्य है। यह हमारा कर्तव्य है। आत्मा अमर और दिव्य है और नित्य विज्ञान उसके स्वरूप हैं। अत: स्वरूप लाभ करना दार्शनिक का लक्ष्य होना चाहिए। इन्द्रियानुभव इस स्वरूप को आवृत्त करता है। अत: इन्द्रियों का दास होना उचित नहीं। जब-जब प्लेटो ने इन्द्रियों की निन्दा की तब-तब उनका लक्ष्य इन्द्रिय जगत् को असत्य सिद्ध करना न होकर इन्द्रिय जगत् के ऊपर विज्ञान जगत् की ओर उठना रहा है। दृष्ट इन्द्रियाँ उस अड़ियल और बदमाश घोड़े की तरह हैं जो रथ को गर्त में ले जाकर पटक देता है और वहाँ से सरकने का नाम नहीं लेता। साधु इन्द्रियाँ उस उत्तम घोड़े के समान हैं जो रथ को सन्मार्ग पर ले जाता है। 'फ्रीडस' में कहा गया है कि शरीर रूपी रथ में साधु और दुष्ट दोनों घोड़े जुत रहे हैं।[1] एक विज्ञानों की ओर जाता है और दूसरा इन्द्रियों विषयों की ओर। आत्मारूपी रथी का कर्तव्य दुष्ट घोड़े को रथ से निकाल देना नहीं है, किन्तु उसको साधु घोड़े के साथ-साथ चलाना है। इससे स्पष्ट है कि प्लेटो इन्द्रिय जगत् का नाश नहीं कराना चाहते। वे उसकी प्रवृत्ति आत्मान्मुख करना

---

(1) शर्मा, सी० डी० : पाश्चात्य दर्शन, पृ० सं०-28।

चाहते हैं। नित्य विज्ञान भी जिसकी ज्योति से चमक रहे हैं, जो ईश्वर का भी पिता है, जो समस्त विश्व में अन्तर्यामी है, जो पर और अनिर्वचनीय है, जो सृष्टि का आदर और परम लक्ष्य है, जिसकी ओर जगत् निरन्तर विकसित हो रहा है, उस विशुद्ध विज्ञान स्वरूप शिवतत्व का निर्विकल्प साक्षात्कार ही मानव जीवन की चरम सार्थकता है।

सत्ता की दृष्टि से विज्ञान "चिद्रूप शुद्ध-सत्" है। विश्व के पदार्थ अपनी सत्ता विज्ञानों से ही लेते हैं। इस सत्ता का तारतम्य है। जो पदार्थ विज्ञान की ओर जितना अभिमुख है उसकी उतनी ही सत्ता है। विज्ञान नित्य, अविकारी, अविनाशी, शाश्वत, सामान्य और सत् है। ये हमारी बुद्धि की कोरी कल्पना नहीं हैं। हमारे विज्ञान इन दिव्य विज्ञानों की अभिव्यक्ति मात्र हैं। इन विज्ञानों की वास्तविक सत्ता है। जगत् के पदार्थ इन विज्ञानों के ही प्रतिरूप हैं।

रहस्य की दृष्टि से विज्ञान 'शिवतत्व की अभिव्यक्ति' के स्तर हैं। प्लेटो ने अपने ग्रन्थ 'सिम्पोज़ियम' में इस तत्व को 'परम सौन्दर्य' और 'फ्रीडस' में 'परमसत्' तथा 'रिपब्लिक' में 'विज्ञान स्वरूप शिवतत्व' कहा है। 'सिम्पोज़ियम' में 'परम सौन्दर्य' का वर्णन इस प्रकार किया गया है– "यह नित्य, अजन्मा और अविनाशी है, न इसकी वृद्धि है और न इसकी हानि, न यह अंशतः सुन्दर है और न अंशतः असुन्दर, न यह कभी सुन्दर और न कभी असुन्दर है, न यह एक वस्तु की अपेक्षा सुन्दर है और न यह दूसरी वस्तु की अपेक्षा असुन्दर, न यह यहाँ सुन्दर और वहाँ असुन्दर है, न यह कुछ व्यक्तियों के लिए सुन्दर और अन्य व्यक्तियों के लिए असुन्दर है और न इस 'परम सौन्दर्य' की कल्पना किसी सुन्दर मुख या सुन्दर हाथ या अन्य किसी सुन्दर की समानता से की जा

सकती है, न इसकी कल्पना बुद्धि द्वारा या विज्ञान की जा सकती है। इस पृथ्वी में या स्वर्ग में कोई इसके समान नहीं। यह नित्य और सदा समरस है।[1]''

'फ्रीडस' में 'परमसत्' का वर्णन यह है– ''परमसत् का न कोई रूप है, न कोई आकार और न कोई घनत्व। इसका साक्षात्कार केवल विशुद्ध प्रज्ञा से हो सकता है।.....तब यह ऐसा नहीं प्रतीत होगा जैसा सृष्टि में हो रहा है, उस समय ये अपने नित्य और शुद्ध स्वरूप में प्राप्य होगा।''[2]

इस परमतत्व का सर्वोत्तम वर्णन 'रिपब्लिक' में हुआ है– ''जो ज्ञेय को (अर्थात विज्ञानों को) सत्ता और ज्ञाता को (अर्थात आत्मा को) ज्ञान शक्ति देता है उसे मैं चाहता हूँ कि तुम 'विज्ञानस्वरूप शिवतत्व' कहो और उसे तुम विज्ञान तथा सत्य का भी कारण मानो। जिस प्रकार प्रकाश और दृष्टि को (सूर्य से प्रकट होने के कारण) सूर्य के समान कहा जा सकता है, किन्तु इस कथन से ये सूर्य ही नहीं बन जाते, उसी प्रकार विज्ञान और सत्य को शिवतत्व के समान कहा जा सकता है, किन्तु साक्षात् शिवतत्व नहीं, शिवतत्व के आदर का स्थान इनसे बहुत ऊँचा है। जो विज्ञान और सत्य का कारण है वह कितना अद्भुत सौन्दर्य होगा!......शिवतत्व केवल सब वस्तुओं के (अर्थात् इन्द्रिय जगत् के) ज्ञान का ही कारण नहीं है वह उनकी सत्ता और उनके स्वरूप का (अर्थात् विज्ञानों का) भी कारण है, फिर भी इस शिवतत्व को (अन्य विज्ञानों के समान) केवल विज्ञान ही नहीं जा सकता, क्योंकि इसका गौरवपूर्ण स्थान और इसकी शक्ति विज्ञानों से बहुत ऊपर है।[3]

---

(1) शर्मा, सी० डी० : पाश्चात्य दर्शन, पृ० सं-34 ।

(2) वही ।

(3) वही, पृ० सं-34-35 ।

प्लेटो का यह शिवतत्व एक साथ 'सत्यं-शिवं-सुन्दरम' है। यह सत्-चित्-आनन्द है। अन्य विज्ञानों के समान एक सर्वोत्तम विज्ञान नहीं है, यह विज्ञानों का भी विज्ञान है। यह स्वरूपों का स्वरूप है। वह समस्त विज्ञानों का और समस्त सांसारिक पदार्थों का जनक है। यह विज्ञान जगत् और इन्द्रिय जगत् दोनों का अन्तर्यामी अधिष्ठान है। यह समस्त सत्ता और ज्ञान का मूल स्रोत है। यह आत्मा को ज्ञान शक्ति और दृश्य जगत् को सत्ता प्रदान करता है। यह ईश्वर से भी ऊपर है। ईश्वर केवल सगुण सृष्टा हैं जो विज्ञानों के मूल रूपों को आदर्श मानकर सृष्टि करते हैं। यह शिवतत्व ईश्वर और विज्ञान दोनों का कारण हैं। यह उनका भी प्राण है।

प्लेटो ने ईश्वर का सृष्टि का निमित्त कारण और नियन्ता माना है तथा शिवतत्व को ईश्वर का भी पिता कहा है। यह शिवतत्व निगुर्ण और अनिर्वचनीय है बुद्धि की गति इस तक नहीं। यह केवल निर्विकल्प स्वानुभूति द्वारा ही साक्षात् किया जा सकता है। तर्क द्वन्दात्मक विरोधों को जन्म देकर अपनी असहायता प्रकट करता है और स्वानुभूति की ओर संकेत करता है।

प्लेटो ने इस शिवतत्व के साक्षात्कार को 'रिपब्लिक' में बहुत सुन्दर रीति से बताया है :– "मान लो कि कुछ मनुष्य पृथ्वी के अन्दर एक गुफा में रह रहे हैं। इस गुफा का द्वार प्रकाश की ओर खुलता है। ये मनुष्य यहाँ बचपन से ही रह रहे हैं। इनके पैर और गर्दन से सांकल से बँधे हैं और ये पीछे नहीं मुड़ सकते, केवल सामने देख सकते हैं। इनके पीछे और ऊपर की ओर कुछ दूरी पर आग जल रही है......और ये लोग दीवाल पर केवल अपनी या एक दूसरे की या बाहर की वस्तुओं की छाया ही देखते हैं। अब यदि इनमें से किसी एक को बंधन मुक्त करके ऊपर भेजा जाये और उसे प्रकाश की ओर देखने को बाध्य किया जाये तो पहले उसे तीव्र वेदना होगी, प्रकाश से उसकी आँखें चौंधिया

जायेगी, वह उन वस्तुओं को साक्षात् नहीं देख सकेगा जिनकी छाया वह गुफा में देखा करता था।.......क्या वह यह नहीं सोचेगा कि वे छायाकृत्तियाँ, जिन्हें देखने का वह अभस्त है, इन असली वस्तुओं से अधिक सत्य हैं?......धीरे-धीरे अभ्यास से उसके नेत्र उन वस्तुओं को देख सकेंगे।"[1] इन्द्रियानुभव का जगत् छाया मात्र हैं किन्तु जब हमारे बन्धन खुल जायेंगे तो हम निर्विकल्प अनुभूति से शिवतत्व का साक्षात्कार कर सकेंगे। हम छाया को ही काया मान बैठे हैं जब कोई सिद्ध पुरुष तत्व की ओर संकेत करता है तो हम उसे मिथ्या समझते हैं किन्तु निर्विकल्प अनुभूति से हम स्वयं तत्व का ग्रहण कर सकते है। तत्व-दर्शन ही दर्शन का लक्ष्य है और इसी में उसके नाम की सार्थकता है।

अनिर्वचनीय शिवतत्व का इससे अधिक निर्वचन नहीं हो सकता। प्लेटो ने अपने शिष्यों को, साक्षात् सम्पर्क में आकर, तत्व का उपदेश दिया था। उसको उन्होंने प्रकाशित नहीं किया। चरम उपदेश तो मौन ही है। इस प्रकार प्लेटो का यह शिवतत्व निर्गुण और अनिवर्चनीय है। बुद्धि की गति इस तक नहीं। यह केवल निर्विकल्प स्वानुभूति द्वारा ही साक्षात् किया जा सकता है यही प्लेटो का रहस्यवाद है।

(ग) प्लोटाइनस

प्लोटाइनस महान दार्शनिक और रहस्यवादी संत थे। इन्होंने प्लेटो से प्रभावित होकर अपने दर्शन की स्थापना की। प्लोटाइनस के अनुसार परमतत्व 'एकमेवाऽद्वितीय' है। यह शुद्ध 'सत्' है जो निर्गुण, निर्विकार और निराकार है। यह अन्तर्यामी भी है और

---

(1) शर्मा, सी० डी० : पाश्चात्य दर्शन, पृ० सं०-35-36 ।

परात्पर भी है। यह प्लेटो का विज्ञान स्वरूप शिवतत्व है। सृष्टि इसका शरीर है और यह सृष्टि की आत्मा है। इसके बाहर कुछ नहीं है, अत: यही सब कुछ है, यह 'सर्व खलु इदं' है। यह सब जगह है। यह सम्पूर्ण विश्व में अन्तर्यामी है किन्तु विश्व इसको सीमित नहीं कर सकता। विश्व इसका शरीर है अत: यह विश्व रूप है। विश्व की आत्मा होने से यह अन्तर्यामी विश्वात्मा है। स्वत: यह परात्पर है, अनिर्वचनीय है। इसे इन्द्रियाँ और बुद्धि नहीं पकड़ सकती। शुद्ध सत् , शुद्ध चित् और शुद्ध आनन्द होते हुए भी यह निर्गुण और अनिर्वचनीय है। यह स्वानुभूति के निर्विकल्प साक्षात्कार का विषय है। यह मौन अपरोक्षानुभूति द्वारा प्राप्य है। विज्ञान भी इसे पूर्णरूप मे इसे ग्रहण नहीं कर सकता क्योंकि यह विज्ञानों का भी विज्ञान है। इसका सर्वोत्तम निर्वचन 'नेति-नेति' है। यह पूर्ण अद्वैत स्वरूप है।

सृष्टि में और परमतत्व में तादात्म्य संबंध है। अत: सृष्टि भी अनिर्वचनीय है। अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि सृष्टि तत्व का 'स्वाभाव' है, स्वाभाविक अभिव्यक्ति है। सृष्टि तत्व में से बह निकली है। तत्व उस प्याले के समान है जिसका अनन्त जल उसमें न समाकर निरन्तर वह निकलता है। जैसे जल प्रपात से निरन्तर जल गिरता रहता है, वैसे ही तत्व की पूर्णता से यह सृष्टि गिरती रहती है। किन्तु इन उपमाओं से यह नहीं समझना चाहिए कि सृष्टि तत्व से अलग हो जाती है या तत्व से भिन्न भी उसकी सत्ता हो सकती है। तत्व एक, पूर्ण और अविभाज्य है। सृष्टि के रूप में वह वस्तुत: खण्ड-खण्ड होकर नहीं बिखरता।

प्लोटाइनस का परमतत्व प्लेटो के विज्ञानस्वरूप शिवतत्व के समान और वेदान्त के परब्रह्म के समान है। सृष्टि में इस परमतत्व की अभिव्यक्ति चार रूपों में होती है। ये रूप है –ईश्वर, विश्वात्मा, जीवात्मा और जड़-जगत्। इनमें से प्रत्येक अपनी ज्योति ऊपर से लेता है और नीचे भेजता है। ज्योति ज्यों-ज्यों नीचे उतरती है उतनी ही क्षीण

होती जाती है। इस तारतम्य में प्रत्येक रूप अपने ऊपर के रूप का अनुकरण करता है और नीचे के रूप द्वारा अनुकरण किया जाता है। ब्रह्म रूप अनिर्वचनीय परमतत्व विशुद्ध विज्ञानस्वरूप है। जब यह स्वयं अपना बोध करता है तो ईश्वर की अभिव्यक्ति होती है। ईश्वर परमतत्व की दृष्टि है।

प्लोटाइनस ने ईश्वर को परमतत्व की दिव्य दृष्टि, दिव्य विज्ञान या दिव्य प्रकाश बताया है।[1] यह परमतत्व का प्रतिबिम्ब है। विश्वात्मा इस दिव्य विज्ञान रूप ईश्वर का प्रतिबिम्ब है। यह सूर्य के समान है। इसकी किरणें जीवात्माओं के रूप में फूट पड़ती हैं। विश्वात्मा से जगत् की अभिव्यक्ति होती है। परमतत्व की ज्योति इसमें अत्यन्त मन्द हो गयी है। जब तक जीव की अविज्ञा है, तब तक संसार है। किन्तु व्यवहार की दृष्टि से जगत् को ठुकराना अनुचित है। जीव को तुरन्त ही परमतत्व का ज्ञान नहीं हो पाता इसके लिए उसे साधना करनी पड़ती है। जब दिव्य ज्योति उतरती है तो उसको ग्रहण करके जीव अपने बन्धन से छुटकारा पा सकता है। जीवात्मा का स्वरूप भी परमतत्व का ही स्वरूप है। दोनों अद्वितीय हैं। स्वरूप ज्ञान होने पर आत्मा और परमतत्व का पूर्ण तादात्म्य हो जाता है। यह दिव्य आनन्द की अवस्था स्वानुभूति का विषय है, वाणी और बुद्धि का नहीं।

(घ) काण्ट

पाश्चात्य दार्शनिकों में जर्मन दार्शनिक काण्ट को भी एक रहस्यवादी दार्शनिक की संज्ञा दी जाती है। ऐसा इसलिए क्योंकि उनको परमतत्व के किसी-न-किसी रूप का साक्षात् दर्शन प्राप्त था। प्रो० रानडे के मत से दर्शन का ही अर्थ तत्व का साक्षात् दर्शन

है जो रहस्यवाद का अर्थ है। इस दृष्टि से काण्ट को रहस्यवादी दार्शनिक कहा जा सकता है।[1]

काण्ट ने दर्शनशास्त्र के दो पक्षों—व्यावहारिक और पारमार्थिक में भेद किया। व्यावहारिक दर्शनशास्त्र में बुद्धि विकल्पों के कारण सत्य एवं निश्चित ज्ञान संभव है, क्योंकि इन्द्रिय-सम्वेदनों की पहुँच यहीं तक है। व्यावहारिक दर्शनशास्त्र से काण्ट का तात्पर्य ज्ञानमीमांसा से है। हम व्यवहार को ही जान सकते हैं, परमार्थ को नहीं। व्यवहार का ज्ञान सत्य और निश्चित होता है क्योंकि यह ज्ञान इन्द्रिय-सम्वेदनों को ज्ञान के रूप में परिणत करके बनाया गया है यदि संवेदन न हो तो बुद्धि विकल्प शून्य और निष्क्रिय रहेंगे। अत: काण्ट के अनुसार हमारा ज्ञान इन्द्रिय संवेदनो के व्यवहार तक ही सीमित है। अत: जहाँ संवेदन है, वहीं देशकाल की सत्ता वास्तविक है। जो पदार्थ अतीन्द्रिय है, जिनका संवेदन नहीं होता, उन परमार्थों के लिए देशकाल की कोई सत्ता नहीं।

काण्ट के अनुसार बुद्धि विकल्प अनुभव निरपेक्ष और सार्वभौम है। उनकी शक्ति के कारण ही संवेदन हमारे ज्ञान के विषय बनते हैं। यहाँ एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या शक्ति बुद्धि विकल्पों की अपनी है या किसी और वस्तु से आती है। काण्ट का उत्तर है कि बुद्धि विकल्प तो संवेदनों को ज्ञान का रूप देने के साँचे हैं, उनमें स्वयं शक्ति नहीं है। यह शक्ति विशुद्ध आत्मा से आती है। आत्मा के प्रकाश से ही बुद्धि विकल्प प्रकाशित होते हैं। इस विशुद्ध आत्मा का अस्तित्व स्वत:सिद्ध है। यह समस्त अनुभव का आधार है। स्वीकरण और निराकरण, खण्डन और मण्डन, विधि और निषेध आदि सब ज्ञान के धर्म है और स्वयं ज्ञान बिना आत्मा के उत्पन्न नहीं हो सकता।

---

(1) पाण्डेय, संगमलाल : भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण, पृ० सं० -522, सेन्ट्रल पब्लिशिंग हाऊस, इलाहाबाद, 1992 ।

अत: ये धर्म आत्मा पर लागू नहीं होते। यह विशुद्ध आत्मा समस्त ज्ञान और अनुभव का अधिष्ठान है। इसका निराकरण संभव नहीं क्योंकि जो निराकर्ता है वही आत्मस्वरूप है। यह विशुद्ध आत्मा व्यावहारिक 'जीवात्मा' भी नहीं है। व्यावहारिक जीव तो हमारे स्वसंवेदन का विषय बनता है किन्तु विशुद्ध आत्मा सदा ज्ञाता ही रहता है कभी ज्ञेय नहीं बनता। इसको ज्ञेय के रूप में खोजना वैसा ही है जैसा ज्वलन्त सूर्य को दीपक के प्रकाश द्वारा देखना। इस विशुद्ध ज्ञाता के बिना किसी प्रकार का ज्ञान संभव नहीं। इसी की ज्योति से और शक्ति से बुद्धि विकल्प इन्द्रिय संवेदनों को ज्ञान का विषय बनाते हैं। यह विशुद्ध ज्ञाता नित्य और अनुभव निरपेक्ष है। संग्रहण, समन्वय, संबंध, नियम, सार्वभौमकता और अनिवार्यता सब इस ज्ञाता के कारण संभव है। इस विशुद्ध ज्ञाता को काण्ट ने 'अतीन्द्रिय' समन्वयात्मक-अद्वय-विशुद्ध अपरोक्षानुभूति[1]'' का नाम दिया है। यह विशुद्ध ज्ञाता विशुद्ध ज्ञानस्वरूप है। यह अद्वय, पूर्ण, नित्य और अनिर्वचनीय है। यह स्वत: सिद्ध सार्वभौम और अनिवार्य है। यह शरीर परिछिन्न जीव नहीं है। समस्त जीवों में इसी की ज्योति है। सारे जीवों के बुद्धि विकल्प इसी की शक्ति से अनुप्राणित होते हैं। यह विशुद्ध और नित्य ज्ञाता हमारे सारे संवेदनों और विज्ञानों को एक सूत्र में बाँधता है। इसी के कारण हमारे अनुभवों में एकरूपता होती हैं। इसी के कारण प्रत्येक जीव का जगत भिन्न-भिन्न नहीं होता। इसी के कारण ज्ञान में सार्वभौमता और अनिवार्यता आती है। यह हमारे सारे ज्ञान और अनुभव का एकमात्र स्रोत है। यह ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञान की व्यावहारिक त्रिपुटि के पार है और उसका निर्विकल्प अधिष्ठान है। इसी की ज्योति और शक्ति के कारण जीव ज्ञाता और जगत ज्ञेय बनता है। ज्ञाता का ज्ञातृत्व ज्ञेय के ज्ञान के कारण ही संभव

(1) शर्मा, सी०डी० : पाश्चात्य दर्शन, पृ० सं० -192 ।

होता है। यदि ज्ञेय न होता तो ज्ञाता भी नहीं और यदि ज्ञाता न होता तो ज्ञेय भी नहीं। इसीलिए सुषुप्ति में ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञान की त्रिपुटि का लय हो जाता है। व्यावहारिक जीव ज्ञाता है और उसके ज्ञातृत्व के लिए यह आवश्यक है कि उससे भिन्न जगत् की सत्ता हो जो उसका ज्ञेय बन सके। जीव के बुद्धि विकल्प वस्तु जगत् को ज्ञेय और अनुभत बनाते हैं। बिना बुद्धि विकल्पों के किसी प्रकार का ज्ञान या अनुभव संभव नहीं और जिस चित् शक्ति के कारण जीव, ज्ञाता तथा जगत् ज्ञेय बनता है वह विशुद्ध आत्मरूप अपरोक्ष ही है। जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में इसी की ज्योति है। सुषुप्ति में इस ज्योति का प्रत्यक्ष नहीं होता क्योंकि जीव उस समय विषयों के अभाव में स्वयं भी नहीं रहता। किन्तु यह ज्योति बनी रहती है अन्यथ सुषुप्ति के पश्चात् का अनुभव सुषुप्ति के पूर्व के अनुभव से सम्बद्ध नहीं हो पाता। यह विशुद्ध ज्ञाता सारे अनुभवों का आधार है और अनुभव के सामंजस्य, एकरूपता, सार्वभौमता और अनिवार्यता का कारण है। जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त देश और काल के खण्डों में पृथक-पृथक प्राप्त होने वाले क्षणिक, असम्बद्ध और निरर्थक संवेदनों को सम्बद्ध, नियमित और सार्थक ज्ञान का रूप देकर उनको एकसूत्र में पिरोने और उनको जीव के 'मेरे अनुभव' बनाने की शक्ति विशुद्ध ज्ञाता में ही है। यह विशुद्ध ज्ञाता अनिर्वचनीय है क्योंकि जीव इसको अपने बुद्धि विकल्पों द्वारा नहीं पकड़ सकता। बुद्धि विकल्पों का कार्य वस्तु को 'ज्ञान का विषय' अर्थात् ज्ञेय या अनुभूत बताना है और विशुद्ध ज्ञाता कभी 'ज्ञान का विषय' या ज्ञेय नहीं बन सकता। बुद्धि विकल्प विशुद्ध ज्ञाता की ज्योति और शक्ति से कार्य करते हैं और इसलिए इस ज्ञाता पर लागू नहीं होते। जो समस्त अनुभव का आधार है, वह स्वयं अनुभव में नहीं फंस सकता। अत: यह विशेषत: स्मरणीय है कि इस विशुद्ध ज्ञाता की 'एकता' या 'पूर्णता' बुद्धि विकल्पों की एकता या पूर्णता नहीं है। एकता और पूर्णता नामक विकल्प भी हैं, किन्तु

जब इस विशुद्ध ज्ञाता के लिए 'एकता' या 'पूर्णता' का प्रयोग किया जाता है तो इसका तात्पर्य इन बुद्धि विकल्पों से नहीं है। 'एकता' और 'पूर्णता' के बुद्धि-विकल्प, अन्य बुद्धि-विकल्पों के समान, इस विशुद्ध ज्ञाता पर निर्भर हैं और इसलिए इस पर लागू नहीं हो सकते।[1] अनिर्वचनीय का निर्वचन करने में, जो बुद्धिगोचर नहीं है उसको जानने का प्रयत्न में, ऐसी शाब्दिक कठिनाइयों का आना अनिवार्य है। किन्तु वाणी और बुद्धि के पार होने पर भी यह विशुद्ध ज्ञाता शून्यवत् नहीं है; क्योंकि इसकी सत्ता स्वत: सिद्ध है। प्रत्येक ज्ञान या अनुभव में इसकी ज्योति प्रकाशित होती है और इसके बिना किसी प्रकार का ज्ञान या अनुभव संभव नहीं। जिज्ञासा का बुद्धि द्वारा विज्ञान न होने पर भी, दृष्टा का इन्द्रिय-प्रत्यक्ष द्वारा दर्शन न होने पर भी, इस स्वत: सिद्ध विज्ञाता के विज्ञान का, इस दृष्टा के दर्शन का लोप कदापि नहीं हो सकता। काण्ट के ये विचार वेदान्त के आत्मतत्व के विचारों से बहुत मिलते हैं। 'विज्ञातारमरे ! केन विज्ञानीयात्' और 'न हि दृष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते।' ' य एव हि निराकर्त्ता तदेव तस्य स्वरूपम'

यहाँ एक समस्या यह उत्पन्न होती है कि यदि परमार्थ तक बुद्धि-विकल्पों की गति नहीं, तो हम यह कैसे कह सकते हैं कि परमार्थ वस्तुत: है और अज्ञेय है? इस प्रकार के कथन से हम परमार्थ को कम से कम 'सत्ता' और 'ज्ञान' के विकल्पों में तो जकड़ रहे हैं। परमार्थ के विषय में हमारा कम से कम इतना तो निश्चित ज्ञान है कि परमार्थ की सत्ता है और वह अज्ञेय है। फिर वह अज्ञेय कैसे हुआ? क्या यह वदतोव्याघात नहीं है? काण्ट इस विकट प्रश्न का उत्तर निर्भीक होकर इस प्रकार देते हैं : हम किसी वस्तु के विषय में दो प्रकार से विचार कर सकते हैं, एक तो विधिरूप से और दूसरे निषेधरूप से। हमारा

---

(1) शर्मा, सी०डी० : पाश्चात्य दर्शन, पृ० सं०-193 ।

सत्य ज्ञान सविकल्प प्रत्यक्ष पर आधारित है। प्रत्यक्ष सदा विधायक होता है, निषेधात्मक नहीं। अत: सत्य ज्ञान भी सदा विधिरूप ही होता है, निषेधात्मक नहीं। यह सत्य है कि निषेध सदा विधान की अपेक्षा रखता है और उसी पर निर्भर रहता है, किन्तु निषेध स्वयं ज्ञानरूप या सर्वथा अज्ञानरूप नहीं होता। निषेध वस्तुत: ज्ञान की सीमा है। निषेध सर्वथा अज्ञानरूप नहीं होता, इससे यह सिद्ध होता है कि जिस वस्तु के ज्ञान का निषेध किया जाता है वह सर्वथा अज्ञेय नहीं है। यदि वह सर्वथा अज्ञेय हो, तो उसका निषेध भी नहीं हो सकता। निषेध का अर्थ इतना ही है कि हमारे ज्ञान की सीमा उस वस्तु तक जाकर समाप्त हो जाती है। ज्ञान को स्वयं अपनी सीमा का ज्ञान होता है और इसमें कोई विरोध नहीं। जिस प्रकार निषेध सर्वथा अज्ञान रूप नहीं है, उसी प्रकार निषेध वस्तुत: ज्ञानरूप भी नहीं है। है तो वह अज्ञान ही क्योंकि ज्ञान सदा विधिरूप होता है। यदि कोई कहे— "मैं अमुक वस्तु को निषेधरूप से जानता हूँ ", तो इस वाक्य का अर्थ केवल यही है— "मैं अमुक वस्तु को नहीं जानता।" निषेधरूपज्ञान और अज्ञान दोनों एक है, क्योंकि दोनों में विधान का अभाव है। फिर भी, निषेधरूपज्ञान सर्वथा अज्ञान नहीं है, क्योंकि वह ज्ञान की सीमा का ज्ञान है। इस प्रकार विधि और निषेध का प्रतिपादन करके काण्ट यह बताते हैं कि परमार्थ को भी हम इन दो रूपों में देख सकते हैं। परमार्थ का विधिरूप ज्ञान असम्भव है क्योंकि विधिरूप ज्ञान सदा इन्द्रिय सम्वेदन और बुद्धि-विकल्प इन दोनों पर निर्भर रहता है और इन दोनों की गति परमार्थ तक नहीं है। किन्तु परमार्थ का निषेधरूपज्ञान संभव ही नहीं, अपरिहार्य भी है क्योंकि यह निषेधरूपज्ञान हमारे ज्ञान की सीमा का ज्ञान है। इसका तात्पर्य यह है कि हमारे ज्ञान की गति परमार्थ तक नहीं है। यह 'नेति-नेति'

वस्तुत: व्यवहार और परमार्थ की सीमा है। यह 'नेति-नेति' न तो परमार्थ का निषेध करती है और न ही व्यवहार का अतिक्रमण। अनिर्वचनीय परमार्थ का सर्वोत्तम निर्वचन 'नेति-नेति' है। इससे परमार्थ के विषय में किये जाने वाले निर्वचनों का निषेध होता है, स्वयं परमार्थ का निषेध नहीं होता। परमार्थ का निषेधरूपज्ञान केवल ज्ञान की सीमा का ज्ञान है, यह वस्तुत: परमार्थ का ज्ञान नहीं है। अत: परमार्थ को अनिर्वचनीय और बुद्धि द्वारा अगम्य कहने में किसी प्रकार का विरोध नहीं हो सकता।

काण्ट को इस रूप में भी रहस्यवादी कहा जा सकता है कि उन्होंने तत्वमीमांसा के अर्थ में दर्शनशास्त्र को असंभव माना है। काण्ट के अनुसार ईश्वर, आत्मा की अमरता आदि तत्वमीमांसीय सिद्धान्त नैतिक और धार्मिक जीवन के आधार स्तम्भ हैं किन्तु यह श्रद्धा या विश्वास के विषय हैं, तर्क या बुद्धि के नहीं। इसी कारण काण्ट ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने हेतु जितने भी प्रमाण दिये गये हैं उन सबका खण्डन करते हैं।

काण्ट की गणना यूरोप के महत्तम दार्शनिकों में हैं। इन्द्रियों का सम्वेदनों के रूप में ज्ञान की सामग्री उपस्थित करना, देशकाल के द्वारों से इस सामग्री का निकलना और फिर बुद्धि-विकल्पों के साँचों में ढलकर सार्वभौम और निश्चित ज्ञान के रूप में परिणत होना, बुद्धि की ज्योति और शक्ति का विशुद्ध ज्ञाता से आना, विशुद्ध ज्ञाता को स्वत:सिद्ध, अनिर्वचनीय, अद्वय अपरोक्षानुभूति मानना और उसे समस्त ज्ञान या अनुभव का एकमात्र अधिष्ठान स्वीकार करना, जीव और जगत् की व्यावहारिक सत्ता स्वीकार करना, इन्द्रिय सम्वेदनों और बुद्धि-विकल्पों की अतीन्द्रिय और बुद्धि द्वारा अगम्य परमार्थ तक गति न मानना आदि सिद्धान्त काण्ट की महत्ता के सूचक हैं।

(घ) विलियम जेम्स

पाश्चात्य रहस्यवादी दार्शनिकों में विलियम जेम्स का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। 1900 में जब विलियम जेम्स स्कॉटलैण्ड में दिये जाने वाले 'गिर्ड व्याख्यानों' की दो मालायें तैयार कर रहा था तो उसका इरादा पहली माला में 'मनुष्य की धार्मिक भूखे' और दूसरी में 'दर्शन के माध्यम से उनकी तृप्ति' पर विचार करने का था। दूसरा भाग तो कभी लिखा ही नहीं गया, और जब 1912 में उसने 'दि प्लूरलिस्टिक यूनिवर्स' नामक पुस्तक लिखी जिसका सुझाव उसे पहली माला से मिला था तो उसको यह नहीं बताया गया था कि दर्शन से धार्मिक भूख कैसे शान्त हो सकती है। अपितु बताया गया था कि धार्मिक अनुभव के तथ्यों को ध्यान में रखते हुए अध्यात्म शास्त्र का पुनर्निमाण किस प्रकार किया जाना चाहिए। जेम्स के मन में हुआ यह परिवर्तन न केवल उसके बौद्धिक कैरियर को समझने के लिए आवश्यक है अपितु इससे यह भी पता चलता है कि उस समय धार्मिक विचारों और धर्म के बारे में विचारों में क्या-क्या आम परिवर्तन हो रहे थे। गिर्ड व्याख्यानों की पृष्ठभूमि में और जेम्स की अपनी पृष्ठभूमि में एक परम्परा थी जिसे अस्पष्ट रूप से 'स्वाभाविक धर्म' के रूप में जाना जाता था। इस परम्परा का यह विश्वास था कि मनुष्य के अन्दर स्वाभाविक धार्मिक प्रवृत्तियाँ होती हैं और उन प्रवृत्तियों को स्वाभाविक बताने वाले दर्शन ही उन्हें पारम्परिक विश्वासों और दिव्यज्ञान प्राप्त धर्मों के कृत्यों की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह संतुष्ट कर सकते हैं। वे 'निरपेक्ष' दार्शनिक आदर्शवाद जिनसे जेम्स स्कॉटलैण्ड और अमेरिका में घिरा रहा, केवल धर्म के दर्शन ही नहीं थे, वह धार्मिक दर्शन थे और संस्थागत धर्म और धर्मशास्त्रों के स्थापनापत्र थे। जेम्स के अनेक सहपाठी और स्वयं उनके पिता भी इसी अर्थ में धार्मिक दार्शनिक थे।

व्यक्ति के रूप में उनके और ईश्वर के बीच के संबंध का माध्यम चर्च संबंधी मार्ग न होकर कुछ आदर्शवादी सिद्धान्त थे। इस 'ज्ञानवाद' को (नस्टिसिज्म) के विरुद्ध जेम्स ने विद्रोह किया। क्योंकि वह चर्चवाद का विरोधी था तो भी उसे विश्वास था कि 'धार्मिक भूख' कभी भी दर्शन से संतुष्ट नहीं हो सकता।[1] इस विषय पर उसके कुछ मतों को उद्धृत करना उचित होगा क्योंकि उनसे न केवल जेम्स के युक्तिवाद से पलटने के बारे में अपितु आदर्शवाद तथा भौतिकवादी निरपेक्षवाद के विरुद्ध अमेरिका में उठ रहे विद्रोह के विषय में भी पता चलता है।

धार्मिक अनुभवों के वर्णन पर जेम्स ने वैयक्तिक बल दिया था। वह यह सिद्ध करना चाह रहा था कि चेतना के दो रूप ऐसे हैं जो इसे सार्वभौमिकवादी, युक्तिवादी और दार्शनिक रूपों से, जिनके आधार पर धर्मशास्त्री आमतौर पर अपने विश्वास की पुष्टि करते हैं वे हैं धार्मिक अनुभूति और धार्मिक प्रकाश के—धार्मिक अनुभव के संवेगी तथा रहस्यवादी रूप।

रहस्यवादी प्रकाश के जेम्स के वर्णन में परिपक्व रहस्यवाद को अधिक स्थान दिया गया है और रहस्यवादी अनुभूति के बारे में जेम्स ने कहा है कि "ध्यान खींचने वाले अधिकांश दृष्टान्त जिन्हें मैंने इकट्ठा किया है, घर से बाहर घटित हुए हैं।"[2] उसने बताया है कि रहस्यवाद

---

(1) श्नेडर, हर्बर्ट डब्ल्यू : धर्म का स्वरूप आधुनिक अमेरिका में, पृ० सं०-203, प्रथम संस्करण - भारतीय भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, 1964 ।

(2) वही, पृ० सं० -204 ।

के अधिक प्रकृतिवादी और धर्मनिरपेक्ष रूपों से प्रारम्भ करने में उसका उद्देश्य इसके धार्मिक रूपों से तारतम्य दिखाना रहा है, लेकिन धर्मनिरपेक्ष रहस्यवादियों और 'ब्रह्माण्डीय चेतना' पर उसने इतनी सहानुभूति ऊँडेल दी है कि जब तक वह पारम्परिक रहस्यवादियों तक पहुँचता है उसके वर्णन फीके पड़ने लगते हैं। अमरीकीय रहस्यवादियों में जेम्स बेंजमीन पॉल, ब्लडराल्फ, वाल्डो ट्राइंग तथा वाल्ट हिवटमैन को अधिक महत्व देता है। बेंजमीन पॉल, ब्लडराल्फ तथा उसके साथी जैनसक्लार्क के लेखों में जेम्स को उस बात पर बल दिया हुआ मिला है जो कि उसके लिए विशेष महत्वपूर्ण है, वह यह कि रहस्यवादी प्रकाश कोई संवेगीय अनुभव नहीं है। अनुभूति तो एक मनोवृत्ति बताती है जिसमें ज्ञान की प्रधानता नहीं होती, पर रहस्यवादी अनुभव 'निजीतौर पर प्रामाणिक' होता है और इसमें एक प्रकार से सत्य की अबौद्धिक पकड़ निहित होती है।

रहस्यवाद में जेम्स की अपनी रुचि तब उत्पन्न हुई जब यह बताने के लिए कि किस प्रकार रहस्यवाद बिना तर्क या संवेग की भ्रान्तियों का सहारा लिए 'वैयक्तिक सत्ता' के अर्थ को प्रकाशित कर सकता है। वह 'ब्रह्माण्डीय चेतना' और 'प्रवृत्ति रहस्यवाद' के विभिन्न रूपों को साथ प्रयोग कर रहा था। उसका विश्वास था कि क्योंकि रहस्यवादी अनुभव का (एक चेतना के रूप में) एक वस्तुगत वास्तविकता या तथ्य से सीधा संबंध है, इसलिए यह वास्तव में एक संवेदन या निरीक्षण है, न तो यह तार्किक है और न ही संवेगी।

रहस्यात्मक अनुभव या धार्मिक अनुभव के संवेगी प्रकारों को जेम्स ने दो विभागों में बाँटा है, 'स्वस्थ चित्त' और 'परेशान आत्मा'। स्वस्थ चित्त वाले प्रकार के लोगों में उसने एमर्सन, थियोडोर पार्कर और 'न्यू थॉट एण्ड क्रिश्चियन साइंस' के अनुयायियों का वर्णन किया है।

इस बारे में कोई संदेह नहीं है कि एक दार्शनिक सिद्धान्त के रूप में स्वस्थ चित्तता पर्याप्त नहीं है क्योंकि जीवन की जिन बुराइयों की यह व्याख्या नहीं करना चाहती वे वास्तविकता के सच्चे अंग हैं, और हो सकता है कि जीवन के महत्व को समझने की वे ही सबसे अच्छी कुंजी हों और शायद सत्य की सबसे गहरी तह तक आँखें खोलने वाले हों। जीवन की सामान्य प्रक्रिया में ऐसे क्षण भी आते हैं जब बुराई बड़े उग्र रूप में हमारे समक्ष प्रकट होती है।

यद्यपि जेम्स ने स्वस्थ चित्त तथा परेशान आत्मा वाले स्वभावों में बुनियादी भेद किया है तो भी उनके विचार से इन दोनों ही प्रकार के व्यक्ति संत बन सकते हैं। लेकिन एक मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक दोनों के ही रूप में जेम्स 'संतपन' के परिणामों का मूल्यांकन करना चाहता है। उसने संतपन का व्यवहार इतने विस्तृत अर्थ में किया है कि उसमें धार्मिक जीवन के विभिन्न पहलुओं का समावेश हो जाता है और फिर वह एक नैतिकवादी की तरह आँकता है कि धार्मिक पुण्य और पाप का सभ्य जीवन में क्या योगदान है? संतपन में क्या स्वाभाविक है और क्या अतिरंजित। इसका विभेद करने के लिए जेम्स के प्रयत्न पर दृष्टिपात करने से हमको उस प्रकार के धार्मिक आदर्शों के बारे में पता लग जायेगा जो कि इस शताब्दी के प्रारम्भ में अमरीकी जीवन में विद्यमान थे।

जेम्स ने इस विषय में जो पहली बात कही है वह यह कि एक धार्मिक अनुभव पूरी तरह वैयक्तिक भविष्यवाणी न करने योग्य तथा अव्यवस्थित होता है। इसलिए सभी रूढ़िवादितायें ऊपर से थोपी हुई होती हैं और सभी संत इस संसार में कम या ज्यादा एकाकी होते हैं। जेम्स के अनुसार धार्मिक अनुभव के प्रत्यक्ष परिणाम संक्षेप में इस प्रकार रखे जा सकते हैं–(1) श्रद्धा या ईश्वर की भक्ति जिसमें अति हो जाने पर कट्टरता पैदा

हो जाती है। जेम्स ने कट्टरता की जो बुराईयाँ गिनाई हैं उसमें गुणों पर आधारित संतपन भी है। (2) श्रद्धा से निकट संबंध रखती हुई पवित्रता है जिसमें कि धर्मरोग उत्पन्न हो जाने का खतरा है। इस संबंध में जेम्स ने कहा है कि सोलहवीं शताब्दी के कैथोलिक मत में सामाजिक पवित्रता की ओर ध्यान नहीं दिया जाता था और संसार को उसके भाग्य पर छोड़कर अपनी आत्मा को बचाने का प्रयत्न बुरा नहीं माना जाता था। पर सही या गलत आजकल आम मानवीय मामलों में सहायक होना अच्छे चरित्र के लिए एक आवश्यक तत्व माना जाता है और सार्वजनिक या व्यक्तिगत रूप में कुछ उपयोगी बन सकना भी दिव्य प्रार्थना का रूप स्वीकार्य किया जाता है। (3) परोपकार या करुणा भी एक और संतों का गुण है जिसमें अति होने से अविवेक का दोष आ जाता है और तब इससे अयोग्य व्यक्तियों की रक्षा होती है और परोपजीवियों और भिखारियों की वृद्धि होती है। जेम्स यह निश्चित रूप से नहीं कहता है कि अप्रतिरोध ही अति करुणा है या नहीं, लेकिन उसने यह बात बड़ी ध्यान देने योग्य कही है।

अगर परिस्थितयों को ऊपर उठाना है तो किसी न किसी को पहला कदम उठाना पड़ेगा और इसका जोखिम स्वीकार करना पड़ेगा। कोई भी ऐसा आदमी जो एक संत की तरह परोपकार और अप्रतिरोध को आज मानने के लिए तैयार नहीं है यह नहीं कह सकता है कि ये विधियाँ सफल होंगी या नहीं। जब ये सफल होती हैं तो इनकी सफलता शक्ति या दुनियाबी दूरदर्शिता से कहीं अधिक शक्तिशाली होती है।.......यह व्यावहारिक प्रमाण है कि दुनियाबी बुद्धिमानी से बढ़कर भी कोई चीज हो सकती है वह है मानव जाति का संतों का जादुई वरदान।[1] (4) प्रार्थना, यदि इसे ईश्वर के साथ आन्तरिक संबंध के

(1) श्नेडर, हर्बर्ट डब्ल्यू : धर्म का स्वरूप आधुनिक अमेरिका में, पृ० सं० -208, प्रथम संस्करण - भारतीय भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, 1964।

विस्तृत अर्थ में लिया जाये तो यह धर्म की आत्मा और सार है लेकिन इसमें जब आत्मा की मुक्ति या शरीर के स्वास्थ्य से बढ़कर किसी चीज की माँग की जाती है तो इसमें मतान्ध मार्गदर्शन का खतरा पैदा हो जाता है। धार्मिक प्रेरणा को जेम्स ने मनुष्य की अवचेतन शक्तियों में से एक माना है। (5) पाप स्वीकृति के बारे में जेम्स ने थोड़ा सा ही कहकर टाल दिया है जिससे यह स्पष्ट नहीं होता है कि वह यह चाहता है कि अपराध स्वीकृति को अपनी गिरावट की अवस्था की ओर जाने दिया जाये या इसे सच्चे तौर पर और अधिक सार्वजनिक बनाया जाये। वह लिखता है कि : जिसने पाप स्वीकार कर लिया है उसका सारा नकलीपन दूर हो जाता है और वास्तविकता शुरू हो जाती है, उसने अपनी विकृत्ति को बाहर निकालकर रख दिया है। अगर उसने इससे छुटकारा नहीं पा लिया तो भी वह कम से कम इस दंभपूर्ण दिखावे की लीपापोती नहीं करता–वह कम से कम एक सच्चाई के आधार पर रहता है। यह कहना कठिन है कि ऐंग्लो सैक्सन समुदायों में पाप स्वीकृति की प्रथा की क्यों पूरी तरह अवनति हो गयी? पोपवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया अवश्य ही एक ऐतिहासिक व्याख्या है क्योंकि उसमें पाप स्वीकृति के बाद तप, पश्चाताप, शुद्धि तथा इसी प्रकार के अन्य काम करने पड़ते थे। फिर भी ऐसा लगता है कि पाप स्वीकार करने वाले व्यक्ति में इसकी इच्छा इतनी तीव्र होनी चाहिए थी कि वह इस साधारण से कारण से इसे छोड़ न बैठता। यह विचार मन में आता है कि कहीं अधिक व्यक्तियों को अपने भेदों का घेरा तोड़ने की अंदर रुकी भभक को निकालने और राहत पाने की आवश्यकता रही होगी, भले ही उनकी पाप स्वीकृति को सुनने वाले कान अयोग्य क्यों न रहे हों। कुछ स्पष्ट, उपयोगी कारणों से कैथोलिक चर्च ने पादरी के कान में चुपचाप पाप स्वीकृति कह देने के स्थान पर सार्वजनिक रूप से पाप स्वीकार करने की प्रथा चलायी है। अपनी आत्मनिर्भरता और अमिलनसारी स्वभाव के कारण हम अंग्रेजी बोलने वाले

प्रोटेस्टेंट लोग केवल ईश्वर से ही अपनी गुप्त बात कहना पर्याप्त समझते हैं।[1] (6) तपस्या पर जेम्स ने सर्वाधिक आलोचनात्मक ध्यान दिया है। उस समय जबकि दार्शनिक तपस्या की निंदा कर रहे थे, जेम्स ने तपस्या का समर्थन किया। इस आधार पर इसे आधुनिक रूप दिया जा सके। वह उद्धरण अब भी पढ़ने लायक है जिसमें जेम्स ने युद्धग्रस्त संसार के लिए एक आवश्यक अनुशासन के रूप में गरीबी की सिफारिश की है। इससे पता चलता है कि किस प्रकार धार्मिक रूप में जेम्स युद्ध के नैतिक तुल्यांग प्रस्तुत करना चाहता था।

धार्मिक पुण्यों के बारे में की गई उपरोक्त टिप्पणियाँ बहुतों में से केवल कुछ ही ऐसे उदाहरण हैं जिनसे पता चलता है कि जेम्स एक नैतिकवादी रूप में धर्म का मूल्यांकन उसके वास्तविक या संभाव्य परिणामों के आधार पर कर रहा था। पर जेम्स की नैतिकतावादिता का सबसे अच्छा उदाहरण उसके द्वारा धार्मिक अनुभव के सौन्दर्यानुभूतिक पक्ष का किया जाने वाला खण्डन है। इस पक्ष को वह धर्म का केवल एक अप्रत्यक्ष अंग मानता है। वह 'सौन्दर्यानुभूतिक सम्पन्नता', राजनीति आदि के बाहरी प्रभावों से धार्मिक अनुभव को मुक्त रखना चाहता था। वैयक्तिक नैतिकता को वह धार्मिक अनुभव का आन्तरिक अंग मानता था पर कला के सबसे वैयक्तिक पहलू भी उसे बाहरी प्रतीत होते थे।

जेम्स के एक सहयोगी जॉर्ज सान्तायना द्वारा एक प्रभावशाली पुस्तक धर्म के बारे में प्रकाशित हुई। इस पुस्तक का नाम था 'रीजन इन रिलीजन', इसमें एक बिल्कुल भिन्न

---

(1) श्नेडर, हर्बर्ट डब्ल्यू : धर्म का स्वरूप, आधुनिक अमेरिका में, पृ० सं०-209, प्रथम संस्करण, भारतीय भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, 1964 ।

प्रकार की रहस्यानुभूति या धार्मिक रुचि का वर्णन किया गया था—वह थी सौन्दर्यानुभूतिक तथा संस्थागत। जेम्स के चेतना के तीन प्रकारों अनुभूति, बुद्धि और प्रकाश के स्थान सान्तायना ने धार्मिक जीवन की वृद्धि की तीन अवस्थाओं में विभेद किया है : पूर्व युक्ति संगत (अंधविश्वास), युक्ति संगत (दार्शनिक विश्वास) और उत्तर युक्ति संगत (कल्पनात्मक सृजन)। धर्म के दोनों विस्तारों में यह प्रगति देखी जा सकती है, पवित्रता में जो कि अपने युक्ति संगत रूप में हमारे जीवन के आधारों के प्रति वफादारी है, और आध्यात्मिकता जो अपने युक्ति संगत रूप में आदर्शों का स्वतन्त्र अनुशीलन है। अपने पूर्ण युक्ति संगत रूप में पवित्रता, प्रमाण और परम्परा के अनुसरण पर निर्भर रहती है। अपने उत्तर युक्ति संगत में पवित्रता में सनातन सत्ता का यश-विशद किया जाता है। अपने पूर्व युक्ति संगत रूप में आध्यात्मिकता में मदान्धता होती है। अपने उत्तर युक्ति संगत में आध्यात्मिकता कला और धर्मशास्त्रों द्वारा दिव्य रूपों, तथ्यों या आदर्शों को पनपाती है। धर्म की बचकाने से युक्ति संगत और उससे कल्पनात्मक रूप की ओर प्रगति में अभिव्यक्ति के सभ्य संस्थागत रूपों और सामूहिक धार्मिक रुचियों की वृद्धि भी अपने आप आ जाती है।

'रीजन इन रिलीजन' इस पुस्तक ने कैथोलिक आधुनिकतावाद का औचित्य सिद्ध किया। अमरीकियों की धार्मिक शिक्षा के प्रभाव के रूप में यह एक क्लासिक प्रेरणा का स्रोत रहा है। इसमें स्वतन्त्र विचारकों का मेल संगठित धर्म से करा दिया और कट्टर दिमागों को अन्धविश्वासों से ऊपर उठाया। सबसे बढ़कर इसने वह किया जो जेम्स भी करना चाहता था, अर्थात इसने बुद्धि को उचित स्थान पर रखा। इस नये भाव के अनुसार मनुष्य की आत्मा को उसके शरीर से अलग किये बिना या बुद्धि का श्रद्धा से विरोध किये बिना भी बुद्धि संगत रूप से जीवन बिताया जा सकता था। जेम्स के दर्शन की तरह इसमें भी बुद्धि को धार्मिक अनुभव में एक माध्यमिक व्याख्यात्मक भाग दिया गया है लेकिन

जेम्स से बढ़कर सान्तायना ने यह माना है कि युक्ति संगत अनुभव उस कल्पना लोक या भाव लोक के द्वार खोल देता है जो सीमाहीन तथा स्वतन्त्र हैं।

इसके बाद जोसिया रोइस ने निरपेक्ष सत्ता के आदर्शवादी भाव का संशोधन इस रूप में किया जिससे जेम्स और आस्तिकों की आलोचना का उत्तर मिल सके। यह कार्य उसने अपनी पुस्तक 'द प्राब्लम ऑफ क्रिश्चियेनिटी' में किया जिसमें धार्मिक अनुभव की अधिक मानवतावादी और सामाजिक व्याख्या की गई है। इससे ही दर्शन और धर्म में उस समझौते की शुरुआत हुई जो जेम्स के बाद से अब तक धार्मिक विचार की विशेषता रहा है। ब्रह्माण्ड शास्त्री कल्पना को छोड़कर रोइस ने इस प्रकार के उद्धारशील समाज के बारे में एक व्यापक सिद्धान्त बनाने की कोशिश की जैसाकि चर्च के बारे में माना जाता है कि उसे कैसा होना चाहिए। इस दर्शन के अनुसार सब धार्मिक मनुष्यों का एक अनन्त 'प्रिय समाज' है जिसकी आत्मा ईश्वर है। उनकी श्रद्धा सभी सदस्यों द्वारा एक दूसरे की आत्माओं और अनुभवों की व्याख्या करने के प्रयत्नों के ऊपर निर्भर है। इसी प्रयत्न से वे ज्ञान, कष्ट, आनन्द और उपलब्धि की एकरूप दशा में ईश्वर के अधीन भागीदार हो जाते हैं। धार्मिक जीवन का इस प्रकार का भाव चर्च को व्यवहार रूप में दिव्य बना देता है और 'सामाजिक धर्मशास्त्र' की दिशा में उससे कहीं आगे चला जाता है जितना कि अधिकांश आस्तिक जाने को तैयार थे, तो भी इस सदी की ईसाइयत की समस्याओं की ओर ध्यान खींचने में सफलता मिली। अमरीकी दर्शन और उदारवादी धर्मशास्त्र में जो व्यक्तिवाद आता जा रहा था उसका उसने प्रतिकार किया। उस समय अमरीकी आदर्शवादियों में धार्मिक अनुभवों का औचित्य ब्रह्माण्डीय वास्तविकता या सत्ता के बजाय मनुष्य के वैयक्तिक, सामाजिक और भलाई-बुराई के ऐतिहासिक अनुभवों के आधार पर सनातन सत्ता के बजाय कालगत प्रक्रिया तथा मानवीय मूल्यों के आधार पर ठहराने की प्रवृत्ति थी।

रोइस ने इस प्रवृत्ति को पूरा प्रोत्साहन दिया। धार्मिक अनुभव के सिद्धान्त पर जेम्स के दृष्टिकोण के लिए आदर्शवाद के अन्दर की इन प्रवृत्तियों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण आम अनुभव के सिद्धान्तों के प्रति वस्तुगत दृष्टिकोणों की वृद्धि है। न केवल प्रायोगिक दार्शनिकों द्वारा अपितु मनोवैज्ञानिकों के द्वारा भी अन्तर्दर्शन के लिए चेतना के प्रकारों का 'दशाओं' के रूप में वर्णन व्यावहारिक रूप में छोड़ दिया गया है। संगठित धर्म को अब अप्रत्यक्ष नहीं माना जाता क्योंकि अपने वैयक्तिक जीवन में कोई मनुष्य प्रत्यक्ष धार्मिक अनुभव से इतना ही दूर हो सकता है जितना कि सार्वजनिक जीवन में।

जेम्स की तरह अब धार्मिक स्थिति या मनुष्य और ईश्वर के बीच के संबंध की इस रूप में कल्पना नहीं की जाती कि अपने एकान्त में बैठा मनुष्य ब्रह्माण्ड में विद्यमान ईश्वर के समक्ष उपस्थित होता है। यह संबंध अब सांस्कृतिक तथा ऐतिहासिक घटनात्मक हो गया है जिसमें मनुष्यों को अपने धार्मिक निर्णय करने और अपने धार्मिक विश्वास बनाने के लिए अन्य मनुष्यों तथा ईश्वर दोनों के साथ संबंध स्थापित करना होता है। धर्म वैयक्तिक अवश्य है पर व्यक्ति तो सामाजिक प्राणी है और ईश्वर भी मानवीय इतिहास में विद्यमान है और साथ ही किसी विशेष आन्दोलन से ऊपर उठा हुआ है। बहुत ही कम धर्मशास्त्रियों ने ऐसा कहा है कि ईश्वर ब्रह्माण्डीय सत्य या संसार का शासक नहीं है पर व्यावहारिक तथा धार्मिक उद्देश्यों के लिए ईश्वर को धर्म से अधिक प्राकृतिक नहीं माना जाता। इस प्रकार धर्मशास्त्रियों और दार्शनिकों का ऐतिहासिक मनोवृत्ति वाला बन जाना इस शताब्दी के दौरान में अमरीकी संस्कृति के रूप परिवर्तन का ही अंग है पर रहस्यात्मक अनुभव के लिए यह परिवर्तन विशेष महत्व का सिद्ध हुआ है।

इन नये विकासों का बहुत स्पष्ट और व्यावहारिक प्रभाव व्यक्तित्व तथा अनुभव की जानकारी के ऊपर पड़ा है। अब उस तरह के अनुभवों पर भी स्वास्थ्य तथा बीमारी के

भाव लागू होने लगे हैं जिन्हे पहले पाप और मुक्ति के शब्दों में सोचा जाता था। जब जेम्स ने धर्म के प्रकारों को स्वस्थ और अस्वस्थ के भेदों में बाँटा था तब मानो भविष्यवाणी ही कर रहा था। स्वस्थ मन और अस्वस्थ मन में अन्तर बताने में वह और भी सूक्ष्म भविष्यवाणी कर सका था। अब मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और मनोविश्लेषणात्मक निदान ने ऐसे साधन उत्पन्न कर दिये हैं जिनसे कम से कम कुछ सीमा तक व्यथित आत्मा वाला व्यक्ति अपनी दशा को आलोचनात्मक रूप में समझ सकता है। पहले तो मनुष्यों के पापों पर ईश्वर के शब्दों द्वारा एक आम तथा पारम्परिक निर्णय दिया जाता था और इसी के आधार पर किसी पापी को अपराधी घोषित कर दिया जाता था। अब इसके स्थान पर निदान और चिकित्सा का भी प्रयोग होने लगा है। अपराध और रोग, नैतिकता और धर्म तथा शाश्वत तथा सामयिक कल्याण के बीच में जो पक्की रेखायें पहले खींची जाती थीं वह अब फीकी पड़ गई हैं। कुछ भेद तो अवश्य बना रहेगा, पर ज्यों-ज्यों व्यक्ति या आत्मा के रूप में शरीर और मन में एकता स्थापित होती है त्यों-त्यों स्वास्थ्य, पवित्रता और मुक्ति भी मिलकर एकात्मक बनते जा रहे हैं। 'धर्मरोगी' व्यक्ति को अधिक अच्छी प्रकार समझने के द्वारा सामान्य धार्मिक अनुभवों में भी हम जेम्स की तुलना में अधिक जानते हैं कि प्रार्थना में वास्तव में किस चीज का आदान-प्रदान होता है। रहस्यवादी चरम अनुभूति में क्या विद्यमान रहता है और दिव्य ज्ञान कहाँ से आता है?

जेम्स को अपनी मनोवैज्ञानिक प्रयोगशाला में चेतना के विभेदों के जिन विचित्र नमूनों से पाला पड़ा था वे अब हमारे लिए सुपरिचित चीज हो गये हैं। इतने कि हमारे धार्मिक समाजशास्त्रीय उन्हें 'मानवीय स्थितियों' के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करने लगे हैं जबकि जेम्स केवल उन्हें धर्म की उग्र अनुभूतियों के नमूने मानता था। जेम्स के समय जिन धार्मिक घटनाओं को चेतना का विशिष्ट रूप माना जाता था वे ही अब सत्तावादी विश्लेषण की सामग्री बन गई हैं। रहस्य और पाप-पुण्य स्थितियों को सत्तावाद मनोविज्ञान

से बाहर ले आया है। मानवीय स्थिति का सत्तावादी वर्णन इतना अन्तर्दर्शन पूर्ण और भावनात्मक नहीं जैसा यह जेम्स के मनोविज्ञान में था पर यह सामाजिक रूप से अन्तर्मुख तथा रोमानी है। प्रार्थना के समय जिस दिव्य उपस्थित और ईश्वर के साथ वैयक्तिक संबंधों की जेम्स ने मनोवैज्ञानिक व्याख्या की है, यह वे ही अनुभव हैं जिनका वर्णन सत्तावादी धर्मशास्त्रियो ने अतीन्द्रिय परसत्ता के साथ वस्तुगत संबंध के रूप में किया है। वर्णन किये गये अनुभव सर्वथा वैयक्तिक हैं, पर अनुभवों की पृष्ठभूमि चेतना की दशाओं से बदलकर सामाजिक स्थितियों की हो गई हैं जिसे जेम्स धार्मिक भूख का परिवर्तन कहता है।

लेकिन सत्तावादी विश्लेषण की प्रकृत्ति जेम्स के मनोविज्ञान की प्रकृत्ति से सर्वथा भिन्न है। एक सच्चे वैज्ञानिक के समान जेम्स अपने धार्मिक रोगियों और उनके आवेशों से अलग होकर निरावेश रूप से उनकी बात के औचित्य का मूल्यांकन कर सकता था पर आज का सत्तावादी बढ़ती हुई धर्मनिरपेक्ष रुचियों के बीच धर्म के कार्य को अपना पवित्र कर्तव्य माने हुए है। उन दिनों धर्म विज्ञान से समझौता करना तथा अपना औचित्य सिद्ध करना चाह रहा था, जबकि आज धर्म को अपनी सत्ता के लिए उन प्रबल सांस्कृतिक शक्तियों के साथ संघर्ष करना पड़ रहा है जो इसे घृणा की दृष्टि से देखते हैं। उस समय पक्षपात और आग्रह से ऊपर उठकर स्पिनोजा की तरह ईश्वर को बौद्धिक रूप से प्यार करना और समझने में ही शान्ति पाना उस समय पवित्रता और आध्यात्मिकता की पराकाष्ठा माना जाता था। धर्म का प्रसंग आज कितना बदल गया है। आज तो धर्म वचनबद्धता, निर्णय, विश्वास और वैयक्तिक उत्तरदायित्व का नाम हो गया है, और आज धार्मिक होने के लिए ऐतिहासिक निर्णयों में भाग लेना आवश्यक है।

....

षष्ठ अध्याय

[illegible] अध्याय

तुलनात्मक अध्ययन

(क) गीता और स्पिनोजा के रहस्यवाद का :

स्पिनोजा और गीता के रहस्यवाद का तुलनात्मक अध्ययन भारतीय और पाश्चात्य रहस्यवाद के अध्ययन पर व्यापक प्रकाश डालता है। तत्व चिन्तन की दृष्टि से देखने पर दोनों दर्शनों में स्वरूपत: साम्य दिखाई देता है किन्तु तत्व चिन्तन की व्याख्या तथा इसकी प्राप्ति के साधनों को लेकर दोनों ही दर्शनों में असमानता देखी जा सकती है। स्पिनोजा के दर्शन की आधार भूमि जहाँ बुद्धिवाद है वहीं गीता भारतीय आध्यात्मिक विचारधारा का प्रतिनिधित्व करती है। स्पिनोजा आधुनिक पाश्चात्य परम्परा के एक महत्वपूर्ण बुद्धिवादी दार्शनिक हैं। गीता भारतीय आध्यात्मिक, दार्शनिक तथा धार्मिक परम्परा का एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इन दोनों ही दर्शनों में प्राप्त दार्शनिक अवधारणाओं को रहस्यवाद की संज्ञा दी जाती है।

स्पिनोजा का दर्शन बुद्धिवादी होने के कारण वैज्ञानिक अथवा तार्किक विशेषताओं से परिपूर्ण कहा जा सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि स्पिनोजा का दर्शन पाश्चात्य बुद्धिवादी परम्परा का होकर भी रहस्यवाद कहलाता है। अत: रहस्यवाद की बौद्धिक अथवा तार्किक व्याख्या स्पिनोजा के दर्शन में पाई जाती है।

गीता भारतीय परम्परा का आध्यात्मिक दर्शन है। इसमें प्राप्त रहस्यवाद तर्क एवं बुद्धि से परे आस्था एवं विश्वास पर आधारित है। गीता का रहस्यवाद अनुभूति अथवा

उच्चतर अनुभूति अथवा उच्चतर ज्ञान पर आधारित है। भारतीय परम्परा में ज्ञान के दो स्तर माने गये हैं। प्रथम, सामान्य ज्ञान अथवा इन्द्रियानुभव। इसे ही बौद्धिक ज्ञान भी कहा जाता है। ज्ञान का द्वितीय स्तर उच्चतर अनुभूति का स्तर है जो साधना द्वारा प्राप्त किया जाता है। उच्चतर अनुभूति में प्राप्त ज्ञान का वर्णन शब्दों में अथवा भाषा में नहीं किया जा सकता। ऐसी मान्यता भारतीय परम्परा में प्रतिष्ठित है। उच्चतर अनुभूति को अवर्णनीय होने अथवा अनिर्वचनीय होने के कारण रहस्यानुभूति कहा जाता है। इस अनुभूति में प्राप्त ज्ञान को रहस्यवाद कहा जाता है।

स्पिनोजा तथा गीता के रहस्यवाद में अनेक समानताएँ पाई जाती हैं। उदाहरण के लिए स्पिनोजा का द्रव्य विचार तथा सर्वेश्वरवाद गीता में प्रतिपादित परमतत्व की अवधारणा तथा ईश्वर के विश्व स्वरूप के बहुत साम्य रखता है। स्पिनोजा तथा गीता के रहस्यवाद में जो महत्वपूर्ण अन्तर अथवा असमानता पाई जाती है वह है स्पिनोजा द्वारा रहस्यवाद की बुद्धिवादी व्याख्या तथा गीता द्वारा रहस्यवाद की आध्यात्मिक दृष्टि से की गई व्याख्या। स्पिनोजा के दर्शन में कुछ बातें ऐसी पाई जाती हैं जिनका संतोषजनक समाधान स्पिनोजा के दार्शनिक विचारधारा के अन्तर्गत प्राप्त नहीं हो पाता। उनका संतोषजनक समाधान गीता के आध्यात्मिक रहस्यवाद के परिपेक्ष में प्राप्त किया जा सकता है।

स्पिनोजा का रहस्यवाद उपनिषद के बहुत निकट है। उपनिषद में भी बताया गया है कि सारी सृष्टि ब्रह्ममय है। (सर्वं खलु इदम् ब्रह्मं) पुनः यह कि यह दृष्टि जगत आत्म स्वरूप ही है। (इदम् सर्व यत् अयमात्मा) गीता में भी भगवान ने कहा है कि जो पुरुष सम्पूर्ण भूतों में सबके आत्मरूप मुझ वासुदेव को ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतों

को मुझ वासुदेव के अन्तर्गत देखता है उनके लिए मैं अदृश्य नहीं होता और वे मेरे लिए अदृश्य नहीं होते।[1]

रहस्यवाद में जिस प्रकार सत्ता की अनुभूति को आत्मविरोधी उक्तियों द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है उसी प्रकार उपनिषदों में ऐसे अनेक कथन मिलते हैं। कठोपनिषद में कहा गया है कि यह सत्ता निकट-से-निकट तथा दूर से अति दूर है। ऐसा कहा गया है– "आसीनो दूरम् व्रजति शयानो याति सर्वत:"[2] अर्थात् वह सत्ता ऐसी है जो बैठी भी है और दूर देश में चलती भी है। सोते हुए भी सब ओर आती-जाती भी वही है। सत्ता की इस महिमा समझने वाले रहस्यवादी के लक्षण उपनिषदों में बताये गये हैं। पुन: ऐसी उक्तियाँ वह "अणोरणीयान् महतोमहीयान्" है। ईशावास्योपनिषद में परम सत्ता के स्वरूप को इसी प्रकार आत्मविरोधी उक्तियों द्वारा चित्रित किया गया है। वह परमेश्वर चलता भी है, नहीं भी चलता, वह दूर से भी दूर है और अत्यन्त समीप भी है। वह समस्त जगत् के बाहर भी है।

उपनिषदों में आत्मा और ब्रह्म की एकलीनता रहस्यवाद को ही प्रकट करती है। जिस प्रकार रहस्यवाद में ज्ञाता-ज्ञेय का भेद समाप्त हो जाता है उसी प्रकार उपनिषद में ब्रह्म और आत्मा की लीनता स्वीकार की गई है। मुण्डक उपनिषद में कहा गया है कि "जिस प्रकार प्रवाहित होती हुई नदियाँ अपना-अपना नाम रूप छोड़कर समुद्र में समाहित

---

(1) अविभक्तं च भूतेषु विभक्तभिव च स्थितम् ।
भूतपूर्व च तत्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥ - गीता, 13.16 ।

(2) कठ. उप., 1.2.21 ।

हो जाती हैं उसी प्रकार रहस्यवादी नाम रूप से रहित होकर दिव्य परमात्म तत्व में लीन हो जाता है। यहाँ तक कि ब्रह्मज्ञ पुरुष स्वयं बह्म हो जाता है।"[1] वह सत्-चित्त-आनन्द की स्थिति में पहुँच जाता है क्योंकि ब्रह्म सच्चिानन्द है।

रहस्य शब्द का प्रयोग आध्यात्मिक ग्रन्थों में एक दूसरे अर्थ में भी हुआ है जिसका तात्पर्य तत्व, भेद, मर्म, गुह्यज्ञान, परमज्ञान से है। गीता में रहस्य शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया गया है। इसके आगे 'वाद' शब्द जोड़ने पर कोई कठिनाई नहीं पड़ती क्योंकि स्पष्ट है कि 'गुह्य' विषय की चर्चा को सत् या वाद का रूप दिया जा सकता है। रहस्यवाद तो उत्पन्न गुह्यज्ञान है जिसकी शाब्दिक अभिव्यक्ति असंभव सी है। गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को बतलाया कि मुझ सर्वज्ञ ईश्वर ने तुझसे यह गुह्य से भी गुह्य अत्यन्त गोपनीय रहस्ययुक्त ज्ञान कहा है। सभी गुह्यों में अत्यन्त गुह्य रहस्ययुक्त मेरे परम वचन तुम पुनः सुनो– "तू मुझमें मन वाला (चित्त वाला) हो, मेरा भक्त (मेरा भजन करने वाला) हो और मेरा ही पूजन करने वाला हो तथा मुझे ही नमस्कार करे। इस प्रकार करता हुआ अर्थात तुम मुझ वासुदेव में ही (अपने) समस्त साध्य, साधन और प्रयोजन को समर्पण करके तू मुझे ही प्राप्त होगा, मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ, क्योंकि तू मेरा प्रिय है।"[2]

---

(1) ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति । -मुण्डक उपनिषद, 2.8.9 ।

(2) इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्यादगुह्यतरं मया ।
सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ -गीता, 18.63-65 ।

आधुनिक दर्शन में स्पिनोजा महान रहस्यवादी तथा पूर्ण सर्वेश्वरवादी थे। स्पिनोजा के अनुसार ईश्वर ही प्रकृति है और प्रकृति ही ईश्वर है। ईश्वर तथा प्रकृति को वह पूर्ण द्रव्य की संज्ञा देते हैं। यही परमतत्व है। इस निरपेक्ष द्रव्य में अनन्त गुण हैं किन्तु मानव बुद्धि और जड़ और चेतन गुणों को जान सकती है। यह द्रव्य पूर्ण एवं स्वयंभू है। यह सभी कारणों का कारण है किन्तु स्वयं किसी का कार्य नहीं । किसी अन्य के माध्यम से इसका ज्ञान संभव है। यह सगुण और निर्गुण, विश्वमय और विश्वातीत है। प्रज्ञा के द्वारा व्यक्ति को परम द्रव्य का साक्षात्कार हो सकता है। इस निरपेक्ष अथवा ईश्वर के प्रति बौद्धिक प्रेम हीं मानव का प्रमुख कर्तव्य है।

द्रव्य के स्वरूप का सृष्टि का अनिवार्य विकास उसी प्रकार होता है जिस प्रकार एक त्रिभुज से उसकी विशेषताएँ प्रकट होती हैं। ईश्वर का बौद्धिक प्रेम ही स्पिनोजा के रहस्यवाद की मुख्य विशेषता है। स्पिनोजा के अनुसार ईश्वर की अनुभूति में मानव कल्याण निहित है। ईश्वरीय अनुभूति प्राप्त करने का ही आचरण सर्वोत्तम है। जीवन में सुख और शान्ति 'ईश्वर प्रेम' पर ही निर्भर है। सब कुछ ईश्वरमय तथा ईश्वर ही सब कुछ है। स्पिनोजा का यह ईश्वर प्रेम वास्तव में रहस्यवादी प्रेम है।

स्पिनोजा तथा गीता दोनों ही दर्शनों में सर्वेश्वरवादी अवधारधा पाई जाती है। दोनों ही दर्शनों के अनुसार एकमात्र ईश्वर ही समस्त जड़ जंगम के रूप में अवस्थित हैं। सम्पूर्ण विश्व के आधार में ईश्वर ही है। दोनों में अन्तर इस बात को लेकर है कि जहाँ स्पिनोजा के दर्शन में चित् और अचित् अथवा जीव और जगत् का ईश्वर का गुण माना गया है वहाँ गीता के दर्शन में चित् और अचित् तथा जीव और जगत् को ईश्वर का अंश

प्रेम स्पिनोजा के दर्शन में बौद्धिक प्रेम कहलाता है और गीता के दर्शन में यह आध्यात्मिक प्रेम कहलाता है।

गीता के अनुसार परमात्मा को अजन्मा और अनादि तथा लोको का महान ईश्वर, तत्व से जानते हैं, वे ही मनुष्यों में ज्ञानवान हैं। परन्तु मनुष्य और अन्य जीव जन्तु तथा जड़ जगत् क्या है ? वे सब के सब न अजन्मा हैं न अनादि।[1] इस संबंध में भगवान कहते हैं कि परमात्मा बुद्धि, तत्त्वज्ञान, विवेक, क्षमा, सत्य, दम, सुख-दु:ख, उत्पत्ति और अभाव, भय और अभय, अहिंसा, समता, संतोष, तप, दान, कीर्ति,अपकीर्ति ऐसे ही प्राणियों की नाना प्रकार की भावनाएँ परमात्मा से ही होती है।[2]

परमात्मा से ही संसार में पूर्ण प्रज्ञा की उत्पत्ति हुई है। परमात्मा ही सबके होने में कारण है और परमात्मा से ही समस्त जगत् चेष्टा करता है। अत; परमात्मा में चित्त लगाने वाले और अपने प्राणों (चेष्टाओं) को उसके ही अर्पण करने वाले सदा परमात्मा का ही चिन्तन और कथन कर संतुष्ट होते हैं और पुन: परमात्मा में ही रमण करते हैं।

ऐसे भक्तों पर अनुग्रह कर, परमात्मा उनके आत्मा में स्थिर होकर उनमें अज्ञान से

---

(1) यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असंमूद : स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ -गीता 10.3 ।

(2) बुद्धिर्ज्ञानसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखं दु:खं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥ -गीता 10.4, 5 ।

उत्पन्न अंधकार को दूर करता है और उनके ज्ञान को प्रज्जवलित करता है। मनुष्य की प्रत्येक चेष्टा और अनुभव परमात्मा की सामर्थ्य से ही होते हैं परन्तु इन चेष्टाओं को करने वाला और इनका लाभ-हानि उठाने वाला जीवात्मा है।

प्रकृति के गुणों की साम्यता मिटती है परमात्मा से और ये गुण ही जब असमता की अवस्था में होते हैं तो चराचर जगत् बनता है और जीवात्मा इस व्यक्त प्रकृति का ही भोग करता है। निर्माता परमात्मा है। भोक्ता जीवात्मा है। जगत् का निर्माण मूल प्रकृति में गुणों की समता टूटने से होती है। इस समता को तोड़ने वाला परमात्मा ही है। कृष्ण कहते हैं कि परमात्मा के विभूतियों का अन्त नहीं। समस्त प्राणियों के शरीर में स्थित आत्मा और उसका आदि, मध्य और अन्त परमात्मा ही है। आत्मा को अनादि माना है। आदि और अन्त का मतलब है प्राणी के शरीर में आना, रहना और पुन: शरीर छोड़ जाना।[1]

दिव्य विभूतियों को गिनाते हुए श्रीकृष्ण ने कहा कि अदिति के बारह पुत्र में विष्णु हूँ। परमात्मा की दिव्य शक्ति का सूचक है–ज्योतियों में रवि, मस्तों में मरीचि, नक्षत्रों में शशि, वेदों में सामवेद, देवों में इन्द्र, इन्द्रियों में मन, भूत प्राणियों में चेतना है। प्राणियों में परमात्मा चेतना है। चेतना आत्मा से भिन्न वस्तु है। चेतना शरीर में क्रियाओं के करने वाली शक्ति है। यह शक्ति इन्द्रियों को चलाती है। आत्मा शरीर का अधिष्ठाता है। वह इन क्रियाओं की दशा और काल का निश्चय करने वाला है। चेतना मशीन को चलाने वाली

---

(1) हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या हयात्मविभूतय: ।
प्राधान्यत: करुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य में ॥
अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थित: ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥ -गीता 10.19, 20 ।

शक्ति है और मशीन को चलने अथवा न चलने का आदेश देने वाला आत्मा है। अतः आत्मा का अभिप्राय चेतना है, जीवात्मा नहीं।

परमात्मा रूद्रों में शंकर है, यक्ष तथा राक्षसों में कुबेर है। वस्तुओं में परमात्मा अग्नि है। पर्वतों में सुमेरु, पुरोहितों में मुख्य बृहस्पति है। सेनानायकों में स्कन्ध, जलाशयों में सागर, महर्षियों में भृगु, वाणियों में ॐकार, मंत्रों में जप, स्थिर रहने वालों में हिमालय, वृक्षों में पीपल, देवर्षियों में नारद, गन्धर्वों में चित्ररथ और सिद्धों में कपिल मुनि हैं। अश्वों में उच्चैश्रवा, हाथियों ऐरावत, मनुष्यों में राजा, अस्त्रों में वज्र, गौओं में कामधेनु, प्रजनन में काम, साँपों में वासुकि, नागों में शेष, पितरों में अर्यमा, शासन करने वालों में यमराज, गणना योग में काल, पशुओं में भृगु, पक्षियों में गरुण, नदियों में गंगा परमात्मा ही है।[1]

श्रीकृष्ण कहते हैं कि परमात्मा ही सृष्टियों का आदि, मध्य और अन्त है। विद्या में वह आध्यात्म विद्या है। अक्षरों में ॐकार है। ज्ञान योग्य श्रुतियों में वृहत्साम, समासों में द्वन्द, न क्षय होने वालों में काल, नाश करने वाले में मृत्यु, उत्पन्न होने वालों का उद्गम स्थान वही है। स्त्रियों में कीर्ति, लक्ष्मी, वाणी, स्मृति, मेधा और क्षमा ये सब परमात्मा ही हैं। छंदों में गायत्री, महीनों में मार्गशीर्ष, ऋतुओं में बसन्त, छल करने वालों में जुआँ, तेजस्वियों में ओज, विजयियों में विजय, व्यवसायियों में निश्चय बुद्धि, साधुओं में साध्विक भाव, पाण्डवों में अर्जुन, मुनियों में व्यास, कवियों में शुक्राचार, दमन करने

---

(1) अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥
आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥ -गीता 10.20, 21 और 32 तक ।

वालों में दण्ड, विजय में नीति,रहस्य में मौन, ज्ञानियों में ज्ञान, परमात्मा ही है।[1] श्रीकृष्ण कहते हैं कि हे अर्जुन परमात्मा सब भूतों की उत्पत्ति में कारण है अत: चर अचर में कोई नहीं जो परमात्मा से रहित है।[2]

परमात्मा की दिव्य विभूतियों का अन्त नहीं जो भी विभूतियुक्त, शान्तियुक्त वस्तु है उसको तू परमात्मा के तेज अंश से ही उत्पन्न जान। सम्पूर्ण जगत् परमात्मा के एक अंश मात्र से धारण किया हुआ और स्थिर है।[3]

परमात्मा का शरीर व्यक्त और अव्यक्त दोनों प्रकार की प्रकृति से है और परमात्मा इसका संचालन ऐसे ही करता है, जैसे जीवात्मा प्राणी के शरीर का करता है। आत्मा का स्वरूप प्राणी का शरीर है और परमात्मा का स्वरूप यह जगत् ही है।

सामान्यत: हर व्यक्ति, प्राणी और वस्तु में परमात्मा की विभूति कार्य कर रही है। गीता के ग्यारहवें अध्याय में अलंकार के रूप में प्रकट किया गया है। परमात्मा को उस स्थान पर दो स्वरूप में वर्णन किया गया है। एक में अत्यन्त मनोहर और सुखकारक दिखाया गया है। अनेक मुख नेत्र आदि से युक्त, अनेकों दिव्य भूषण से युक्त, दिव्य शास्त्रों से युक्त, दिव्य मालाओं तथा वस्त्रों को धारण किये हुए, दिव्य सुगन्धियों को लेप किये हुए, सर्व ऐश्वर्य युक्त अनन्त विराट रूप उसको दिखाया है।[4]

---

(1) गीता, 10.33 से 38 तक ।

(2) यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति बिना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥ - वही, 10.39 ।

(3) वही, 10.40, 41, 42 ।

(4) वही, 11.10, 11

इस रूप को देख अर्जुन को सहस्त्रों सूर्यों से भी अधिक परमात्मा का तेज दिखाई दिया। यह समझ में आया कि परमात्मा अनेक प्रकार से पूर्ण जगत् के सब देवताओं के शरीरों में होते हुए भी एक स्थान पर स्थित है।[1]

परमात्मा जानने योग्य, परम अक्षर, विश्व का परम आश्रय, धर्म रक्षक, अनादि, अविनाशी, सनातन पुरुष है। ऐसा मुझको समझ में आया। अर्जुन को परमात्मा आदि अन्त और मध्य से रहित, अनन्त सामर्थ्यवाद, अनन्त हाथों वाला, चन्द्र सूर्य के नेत्रों वाला, जलती हुई अग्नि के तेज से जगत् को तपायमान करने वाला दिखाई दे रहा है।[2]

इस सुन्दर दिव्य और तेजोमय रूप के साथ अर्जुन को एक और रूप भी दिखाई दिया। अर्जुन ने कहा–मुझे परमात्मा बहुत मुखों, हाथों, पेटों और दाँतों वाला दिखाई दे रहा है। इस रूप से मैं और सब लोग भी व्याकुल हो रहे हैं। अर्जुन ने कहा मुझे यह दिखाई दे रहा है कि परमात्मा के मुख से प्रलय की अग्नि के समान प्रज्जवलित अग्नि निकल रहा है, जिसे देख मैं दिशाशून्य हो रहा हूँ। जैसे–नदियाँ बहती हुई समुद्र की ओर

---

(1) दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥
तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥ - गीता, 11.12, 13 ।

(२) पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान्य ॥
अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूपा ॥ - वही, 11.15, 16 ।

चली जा रही हैं, वैसे ही यह शूरवीर योद्धा परमात्मा के प्रज्जवलित मुख में प्रवेश कर रहे हैं। पतंगों की भाँति ये सब-के-सब मोह में फँसे हुए परमात्मा के मुख में प्रवेश कर नाश को प्राप्त हो रहे हैं।[1] इस प्रकार कृष्ण ने परमात्मा का दूसरा रूप दिखाया। स्पिनोजा के दर्शन का आधार देकार्त के कुछ मूल विचार हैं जिनको स्पिनोजा ने सुधारा, संवारा, बढ़ाया और अपनाया। देकार्त के समान स्पिनोजा भी बुद्धिवादी हैं। स्पिनोजा इस बात को मानते हैं कि निर्विकल्प अनुभूति के मौलिक नियमों की सहायता से बुद्धि निश्यात्मक और

---

(1) रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहरूपादम् ।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्टवा लोका: प्रव्यथितास्तथाह्म ।।
नभ: स्पृशं दीप्तमनेकवर्ण व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।
दृष्टवा हि त्वां प्रव्यधितान्तरात्मा घृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ।।
दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्टैव कालानलसन्निभानि ।
दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास ।।
अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्रा: सर्वे सहैवावनिपालसंघै: ।
भीष्मो द्रोण: सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यै: ।।
वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
केचिदिलग्ना दशनान्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमांगैं : ।।
यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगा: समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ।।
यळा प्रदीप्तं ज्वलनं पतंगा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगा: ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगा: ।।

- गीता, 11.23, 24, 25, 26, 27, 28, 29।

सार्वभौम ज्ञान प्राप्त करने की क्षमता रखती है। इस ज्ञान का आदर्श गणित विशेषत: रेखागणित है। ज्ञान का उद्‌गम इन्द्रियानुभव में न होकर बुद्धि के सार्वभौम नियमों में है। देकार्त का द्रव्य, गुण और पर्याय का भेद और विभाजन स्पिनोजा को मान्य है किन्तु इनके आधार पर देकार्त ने जो सिद्धान्त बनाए उनसे स्पिनोजा बिल्कुल सहमत नहीं हैं। देकार्त का यह सिद्धान्त जगत् यंत्रवत् है स्पिनोजा को मान्य है और देकार्त के आगे बढ़कर उन्होंने जीव को भी यंत्रवत् मान लिया किन्तु देहात्मसंयोग और उनकी क्रिया-प्रतिक्रिया का सिद्धान्त स्पिनोजा को मान्य नहीं। स्पिनोजा के दर्शन में देकार्त का द्वैतवाद अद्वैतवाद में, ईश्वरवाद सर्वेश्वरवाद में और क्रिया-प्रतिक्रियावाद समानान्तरवाद में परिणत हो जाता है।

देकार्त के ये विचार कि दर्शन सत्य की खोज है, कि सत्य के स्वत:सिद्ध और प्रमाण जन्य दो रूप हैं, कि दर्शन की पद्धति संदेह को साधन मानकर चलने की है, कि ज्ञाता की स्वत:सिद्धता और स्वप्रकाशता अनिवार्य है, कि पदार्थों को द्रव्य, गुण और पर्याय में विभक्त किया जा सकता है स्पिनोजा को मान्य है। किन्तु देकार्त ने जो भूले कीं स्पिनोजा ने उसमें सुधार किया। देकार्त ने आत्मा को स्वत:सिद्ध और स्वप्रकाश तो माना किन्तु आत्मा के महत्व को नहीं समझा। आत्मा उनके लिए जीवात्मा ही रहा। स्पिनोजा ने बताया कि जीव को स्वत:सिद्ध और स्वप्रकाश नहीं माना जा सकता। वास्तविक आत्मा परमात्मा है। परमात्मा अद्वैतस्वरूप है। यह परमात्मा ही स्वत:सिद्ध और स्वप्रकाश है जीवात्मा नहीं। द्रव्य के विषय में देकार्त ने दो प्रकार का द्वैत माना था, एक तो परद्रव्य और अपरद्रव्य का द्वैत और दूसरा चेतन द्रव्य और विस्तृत द्रव्य का द्वैत। स्पिनोजा ने पहले द्वैत को असंगत कहकर ठुकरा दिया और दूसरे द्वैत को संशोधित रूप में स्वीकार

किया। संशोधन यह किया कि इस द्वैत को द्रव्य के स्तर से उतार कर गुण के स्तर पर रख दिया अर्थात् चेतन द्रव्य और विस्तृत द्रव्य का तात्विक द्वैत स्वीकार न करके केवल चैतन्य गुण और विस्तार गुण का द्वैत स्वीकार किया। स्पिनोजा ने बताया कि जब देकार्त द्रव्य को स्वतन्त्र सत्ताशील मानते हैं तब चित् और अचित् को द्रव्य कैसे मान सकते हैं? चित् और अचित् दोनों ईश्वर परतन्त्र हैं, उनकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। अत: वे द्रव्य नहीं है। एकमात्र ईश्वर द्रव्य कहे जाने के पात्र हैं, क्योंकि केवल उन्हीं की स्वतंत्र सत्ता है। 'अपर द्रव्य' या 'सापेक्ष द्रव्रय' बदजोव्याघात है। वस्तुत: देकार्त भी इस विरोध को जानते थे, किन्तु चर्च के भय के कारण शायद उनको यह स्पष्ट कहने का साहस नहीं हुआ और उन्होंने 'ईश्वर परतन्त्र होने से स्वतंत्रता की क्षति नहीं होती' यह कहकर ही संतोष की सांस ले ली। स्पिनोजा ने चित् और अचित् को द्रव्य के पद से उतारकर गुण के पद पर बैठा दिया। चित् और अचित् दोनों ईश्वर के गुण हैं। चित् का अर्थ चैतन्य और अचित् का अर्थ विस्तार है। इस प्रकार देकार्त का द्वैतवाद स्पिनोजा में अद्वैतवाद बन गया। देकार्त ने जो ईश्वर का स्वरूप बताया वह भी दोषपूर्ण था। देकार्त के ईश्वर सृष्टि के कर्ता और नियन्ता बनकर सृष्टि के पार अपने दिव्य लोक में विराजते हैं। उनका सृष्टि के साथ कोई साक्षात् और आन्तर संबंध नहीं। वे सृष्टि के निमित्तकारण ही हैं। स्पिनोजा ने ईश्वर और सृष्टि का तादात्म्य संबंध स्थापित किया। ईश्वर सृष्टि के ऊपर दिव्य लोक में नहीं विराजते और न साकार हैं। ब्रूनों के समान स्पिनोजा ने कहा कि ईश्वर सृष्टि के अणु-अणु में रम रहे हैं। वे अन्तर्यामी हैं। सृष्टि उनका शरीर है। सृष्टि ईश्वर के बाहर नहीं, भीतर है। जो कुछ है, सब ईश्वररूप है। इस प्रकार देकार्त का ईश्वरवाद स्पिनोजा में सर्वेश्वरवाद बन गया। स्पिनोजा ने देकार्त के देहात्मक्रिया-प्रतिक्रियावाद को असंगत

बताकर अपने समानान्तरवाद की पुष्टि की। निमित्तवादियों ने देह और आत्मा को निमित्त मात्र मानकर ईश्वर को ही शक्त कारण माना था। स्पिनोजा ने बताया कि देह और आत्मा स्वतंत्र द्रव्य तो है नहीं, ये ईश्वर के विस्तार और चैतन्य नामक गुण हैं, जो दो समानान्तर धाराओं के रूप में बह रहे हैं। इनका संयोग का क्रिया-प्रतिक्रिया मानने की आवश्यकता नहीं। इस प्रकार देकार्त का क्रिया-प्रतिक्रियावाद स्पिनोजा में समानान्तरवाद में बदल गया।

द्रव्य, गुण और पर्याय - ये तीन स्पिनोजा के दर्शन के आधार-स्तम्भ हैं। द्रव्य वह है जिसकी स्वतंत्र सत्ता हो और जिसके ज्ञान के लिए किसी अन्य पदार्थ के ज्ञान की अपेक्षा न हो गुण है द्रव्य के स्वरूप-धर्म अर्थात् वे धर्म जिनको बुद्धि द्रव्य का स्वरूप समझती है। पर्याय या प्रकार हैं द्रव्य के परिणामी धर्म ।

गीता के अन्तर्गत अध्यात्म का अनुशीलन स्वभावत: उसके तत्त्व दर्शन से समन्वित है। यदि वैयक्तिक तथा वैश्य जीवन में श्रेय सिद्धि अध्यात्म का अभिप्राय है, तो व्यक्तिभावापन्न आत्मतत्व, विश्वभावापन्न सर्वोत्तम तत्व तथा सर्वोत्तम परमात्मा तत्व के दर्शन में ही अध्यात्म का रहस्यात्मक सत्य निहित है। उस सत्य से रहित न जीवन है, न जीवन की श्रेय साधना और न सिद्धि। अत: गीता के अध्यात्म निर्देशन में तत्व ज्ञानार्थ दर्शन भी सन्निहित है। दार्शनिक बुद्धि ने गीता की दार्शनिक व्याख्या विभिन्न प्रार से की है। भाष्यकारों ने व्याख्याकारों ने, विद्वान विचारकों ने गीता में उद्धृत पुरुष, प्रकृति, ईश्वर, माया, जीव, ब्रह्म, परमात्मा, जगत् , विश्व, जन्म, मृत्यु, बंधन, मोक्ष इत्यादि की व्याख्या में की है और अपने-अपने मतों का अवलम्बन करके दार्शनिक ताना-बाना प्रस्तुत किया है। इन व्याख्याओं में मतभेद तो है ही, सहमति भी दिखाई पड़ सकती है।

गीता में सांख्य आदि की चर्चा होते हुए भी उसको प्रस्थान त्रय में प्रतिष्ठित करके वेदान्त का प्रमाण ग्रन्थ मान लिया गया है और प्राय: सभी वेदान्ताचार्यों ने उसका भाष्य करके अपने-अपने मत का पोषण प्राप्त किया है।

किन्तु गीता का आरम्भ अर्जुन की जिस समस्या को लेकर हुआ है वह निश्चय ही दार्शनिक नहीं है। उसके समाधान के लिए जीवन के जिन गुह्य सत्यों का उद्घाटन श्रीकृष्ण ने किया है, उनमें भी कोई दार्शनिक ऊहापोह नहीं है। श्रेय की जिज्ञासा मूलत: जीवन की गहनतम अभीप्सा पर आधारित है। यह जिज्ञासा केवल दिमागी प्रश्न नहीं है, किसी परम लाभ की आन्तर अभिलाषा है, श्रेष्ठ प्राप्ति की पिपासा है। अर्जुन शिष्य हैं, प्रसन्न होकर सच्चा समाधान चाहता है, सुनिश्चित श्रेय को समझना चाहता है।[1] एक शिष्य की जिज्ञासा सुनिश्चित ज्ञान से तृप्त होगी, किसी दार्शनिक मतवाद से नहीं, सत्य दर्शन में उसका समाधान होगा, किसी शास्त्रीय व्याख्या में नहीं। श्रीकृष्ण उन सभी रहस्यों का उद्घाटन गीता में करते हैं, उन सभी सत्यों का निर्दर्शन कराते हैं, जो अर्जुन की श्रेयसाधना के लिए अपेक्षित है और जिनको जानने-समझने के लिए क्रमश: उसका मानव व्यक्तित्व अपने शिष्य भाव से समर्थ होता गया है। इस क्रम में सांख्य योग दर्शन की 'पुरुष-प्रकृति' चर्चा, 'त्रैगुण्य' चर्चा, 'विवेक', 'वैराग्य', 'ध्यान', 'समाधि', इत्यादि की चर्चा भी आयी है और वेदान्त के 'ब्रह्म', 'माया', 'जीव', 'जगत् ', 'अविद्या', 'मोक्ष', 'ब्रह्म-निर्वाण' इत्यादि की चर्चा भी है, किन्तु यह सब चर्चा दर्शन शास्त्रीय रीति से

---

(1) यच्छ्रेय: स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे ।

शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥ - गीता, 2.7 ।

युक्तियों द्वारा पर-मत खण्डन करते निज मत मण्डन के निमित्त की गयी चर्चा नहीं है। उसमें जीवन को ऊर्ध्वमुखी बनाने के लिये, श्रेयोन्मुखी साधक को निश्चयात्मक निर्देशन देने के लिए, जीवन के गुह्य सत्यों का उद्घाटन किया गया है। वह सब गीता का 'दर्शन' है, दार्शनिक मतवाद नहीं। उसमें चिन्तनात्मक तत्व निरूपण नहीं है, साधनात्मक जीवन के लिए यथेष्ट तत्ववोद्घाटन है।

गीता का सबसे पहला तात्विक उद्घाटन देह-देहि विवेक जगाने वाला है जिससे शोक मुक्त होना संभव है। उसे 'सांख्य बुद्धि' कहा गया है और यह संभव है कि वहाँ हमें सांख्य दर्शन का पुरुष प्रकृति द्वैत दिखाई पड़े। गीता में क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का भेद उद्घाटित किया गया है। वहाँ भी सांख्य की भाषा है और हमें पुरुष प्रकृति द्वैत का आभास हो सकता है किन्तु न तो देह-देहि विवेक वस्तुतः किसी तात्विक द्वैत का परिचायक है और न केवल गीता का सांख्य ईश्वर कृष्ण का द्वितत्ववादी दर्शनशास्त्र है। गीता में सांख्य दर्शन की प्रकृति की चर्चा है। उसे भिन्ना अष्टधा प्रकृति कहा गया है।[1] किन्तु पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण उसे अपनी प्रकृति कहते हैं। 'मे भिन्ना प्रकृतिः'। साथ ही उसे 'अपरा' कहकर अपनी अन्य जीवभूता पराप्रकृति का उद्घाटन करते हैं जिसके द्वारा जगत् को धारण किया जा रहा है।[2]

सांख्य दर्शन के अन्तर्गत प्रकृति न तो पुरुष की प्रकृति है न किसी जीवभूता

---

(1) भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं में भिन्ना प्रकुतिरष्टधा ॥ - गीता, 7.4 ।

(2) अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ - वही, 7.2 ।

पराप्रकृति की वहाँ कोई संगति है। गीता में परा-अपरा-द्विधा प्रकृति का यह उद्घाटन परम पुरुष श्रीकृष्ण, ज्ञान-विज्ञान सहित अपने ही स्वरूप का ऐसा समग्र ज्ञान कराने के लिए करते हैं कि जिसे प्राप्त कर लेने के पश्चात् कुछ भी ज्ञातव्य शेष नहीं रह जाता।[1] इसी प्रसंग में क्रमशः सर्वानुगत सब में ओत-प्रोत स्वयं पुरुषोत्तम के एकमेव तत्व का उद्घाटन है।[2]

अर्थात् "मैं ही समस्त जगत् का प्रभव हूँ तथा मैं ही प्रलय हूँ। मेरे अतिरिक्त, मुझसे अलग कुछ भी नहीं है, यह समस्त सत्ता मुझ में ही अनुस्यूत है, जैसे सूत्र में मणियाँ पुरोई हुई होती हैं।"[3]

परमेश्वर परमात्म तत्व की सर्वस्वता, सर्वमयता, सर्वान्तर्यामिता, सर्वाभिव्यंजना का अद्भुत विपुल कथन गीता में हुआ है।

इस सृष्टि में सर्वत्र सर्वानुगत वही एक परमात्व तत्व है, वही सर्वान्वयी, सर्वाशयी, सर्वोपरि, सर्वातीत भी है। गीता में जो कुछ तात्विक चर्चा सांख्य शास्त्र की भाषा में की गयी है, उसमें भी सर्वथा एक ही परम तत्व की अभिव्यंजना है, यह गीता के अध्ययन

(1) ज्ञानं तेऽहि सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यत्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमव शिष्यते ॥ - गीता, 7.2 ।

(2) अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा । - वही, 7.6 ।

से निःसंदेह, उद्घाटित होता है। सत्व, रजस, तमस आदि प्राकृत भावों को भी पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण अपने से ही उद्भूत कहते हैं।

क्षर-अक्षर का अर्थ समझाकर तुरन्त ही उत्तम पुरुष परमात्मा का प्रकाशन किया गया है जो अन्य पुरुषीय भाषा में है। साथ ही उत्तम पुरुषीय भाषा में इस सत्य का उद्घोष कर दिया गया कि वह परमात्म पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण स्वयं ही हैं अर्थात् इस लोक में क्षर तथा अक्षर दो पुरुष हैं। क्षर है समस्त भूत समुदाय, कूटस्थ को अक्षर कहा गया है, परन्तु अन्य है उत्तम पुरुष जिसे परमात्मा कहा गया है, जो अव्यय है, ईश्वर है और जो तीनों लोकों का समावेश करके सबका भरण करता है।

गीता का परमतत्व है पुरुषोत्तम जो सर्वातीत भी है, सर्वान्तर्यामी भी है। वही अव्यक्त भी है, वही समस्त लोकों में विभक्त भी है। वही गुणातीत भी है, वही सर्वगुण सम्पन्न भी है, वही सर्वकर्ता है, सर्वलोक महेश्वर है।

सम्पूर्ण सृष्टि उसी पुरुषोत्तम की अभिव्यक्ति है उसी की योग माया से उसका उद्भव होता है, उसी में वह स्थित भी है, उसी में प्रगट भी है, उसी में उसका लय भी होता है। वही पुरुषोत्तम इस जगत् का पिता भी है, माता भी है और धाता भी है।

गीता का यह दर्शन 'ज्ञान-विज्ञान' समन्वित दर्शन है जिसके अनुसार इस परमात्मा को तत्वतः भी जानना है, सर्वतः भी। इस सर्वान्वयी दर्शन में पुरुषोत्तम परमात्मा तत्व सर्वोत्तम तत्व है, निरपेक्ष है। अद्वय है परन्तु जगत् उसी परमात्मा का आत्मसर्जन है। एकत्व भी वही है, बहुत्व भी वही है।

वह पुरुषोत्तम अपनी प्रकृत्ति को अधिष्ठान बनाकर आत्म माया से युग-युग में

आविर्भूत होता है, जिसे अवतार कहा जाता है। वही पुरुषोत्तम अपनी प्रकृति को दबाकर उसे दबोचकर (अवष्टम्य) पुन:-पुन: अपना विसर्जन करके उसी के वशीभूत हुआ, समस्त विश्व भूतग्राम बन जाता है।[1]

गीता में यह तथ्य सर्वथ स्पष्ट रूप से उद्घाटित कर दिया गया है कि परमात्मा तत्व न केवल सम्पूर्ण जगत् में अन्तर्यामी है अपितु समस्त चराचर सृष्टि (सचराचरम्) वह स्वयंमेव है। इस जगत् की प्रत्येक सत्ता, प्रत्येक रचना, प्रत्येक कृति, प्रत्येक घटना उसी का विधान है, लोक-परलोक उसी से उद्भूत है, उसी में व्याप्त हैं, उसी में संचालित हैं, उसी में निवसित हैं। जिस भाषा में पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण अपनी अनन्त विभूतियों में से केवल किन्हीं का 'समासत:' कथन करते हैं उसी से स्पष्ट है कि न केवल जीवात्मा भाव से मनुष्य अपितु सभी भूत प्राणी, सभी लोकों की भूतियाँ, समस्त प्राकृत वस्तुएँ और घटनाएँ वे स्वयं हैं, सभी विशेष संभूतियाँ उनकी ही विशेष अभिव्यक्तियाँ हैं। विश्व विस्तीर्ण विभूति का रहस्य प्रकट किया गया।[2] अत: देशकाल गत समस्त सत्ता, समस्त गति, समस्त परिवर्तन भागवत विधान है। मानव जीवन का समस्त इतिहास भी उसी के अधीन है। यह सत्य अद्भुत प्रकार से विश्वरूप दर्शन में उद्घाटित हुआ है, जहाँ वह

---

(1) प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्यमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ - गीता, 9.8 ।

(2) अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥ - वही, 10.8 ।

नित्य अकाल तत्व सर्वाक्षीयमय प्राकट्य के साथ घोषणा करता है।

सत्योद्घाटन की इस श्रंखला में सर्वथा स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि जीवात्म भाव से व्यक्ति वस्तुतः उसी पुरुषोत्तम का सनातन अंश है।[1] अर्थात् जीवलोक में बना हुआ मेरा ही सनातन अंश है।

जीवात्मा के प्रसंग में गीता का दर्शन विशेष रूप से संश्लेषणात्मक है। उसकी भाषा में सांख्य भी है, योग भी है, वेदान्त भी है। देह-देहि विवेक को लेकर अनेक पुरुषों की निरन्तर सत्ता का संकेत भी किया गया है।

जीवात्मा पुरुषोत्तम का नित्य सनातन अंश है, यह भी कहा गया है कि जिससे विशिष्टाद्वैत तथा द्वैत की धारणाएँ पुष्ट होती हैं, किन्तु आत्मतत्व एक ही है। वह अविभक्त है, विभक्त केवल प्रतीतिगत है।[2] इससे अद्वैत की धारणा भी पुष्ट होती है।

उपर्युक्त उद्धरणों तथा उनसे सम्बद्ध अवधारणाओं को लेकर गीता की व्याख्या आचार्यों और विद्वानों ने विभिन्न प्रकार से की है किन्तु यह अकल्पनीय होगा कि गीता का दर्शन विभिन्न धारणाओं अथवा मतवादों का एक संकलन मात्र है। पुरुष तत्व के प्रसंग में उसकी भाषा विलक्षण है। वह क्षर को भी पुरुष कहती है, अक्षर को भी। जिस प्रकार गीता प्रकृति की अपरा और परा भूमिकाओं से सांख्य और वेदान्त दर्शन का समन्वय सम्पादित

---

(1) ममैवांशी जीवलोके जीवभूतः सनामनः ।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ - गीता, 15.7 ।

(2) अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभृतं च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥ - वही, 13.16 ।

करती है उसी प्रकार वह क्षर और अक्षर दोनों को पुरुष कहकर सम्पूर्ण भूतों की अनित्यता को कूटस्थ आत्मतत्व के साथ तत्वत: समन्वित करके सर्वोपरि पुरुषोत्तम तत्व के अन्तर्गत सर्वाग एकत्व का रहस्य उद्घाटित करती है। गीता के जीवात्म दर्शन को किसी भी एक दार्शनिक परम्परा में इस प्रकार बाँधकर समझना कि जिससे कि अन्य परम्पराओं का खण्डन हो उचित नहीं होगा।

वस्तुत: गीता दार्शनिक प्रतिपादन का ग्रन्थ नहीं है। उसमें परमात्म परमतत्व, प्राकृत विश्व जीवन अथवा जीवात्माभिव्यक्ति की चर्चा किसी दार्शनिक निर्णय के लिए अथवा विद्या के लिए नहीं की गई है। उसकी तात्विक चर्चा का प्रयोजन केवल उस परम श्रेय की साधना के निमित्त है जो परमसत्य का दर्शन भी है, परमतत्व की प्राप्ति भी, सर्वांग सर्वोत्तम योग सिद्धि भी। उस साधना के क्रमिक सोपान है, पारस्परिक आयाम है और अधिकाधिक अनुभूतियाँ हैं। अनन्य सत्य की क्रमश: उद्घाषित होने वाली गुह्य, गुह्यतर और गुह्यतम् गहराइयाँ हैं। यह सत्य है कि विभिन्न जीव हैं जिनकी लोक-परलोक यात्रा होती है, जिनका पृथ्वी से भी संबंध है, जिनका स्वर्ग से भी, जो जन्म-जन्मान्तर में क्रमश: विकास करते हुए भगवत् विधान के अधीन परागति को प्राप्त होते हैं।[1] अर्थात् बहुत से जन्मों के अन्त में ज्ञानवान मुझे प्राप्त करता है। जीवात्मा के जन्म-जन्मान्तर में निहित इस भागवत् विधान को हम किसी एकान्तिक दार्शनिक मतवाद के नाते अविद्याजन्य व्यवहार मात्र कहकर मिथ्या मानना चाहें तो भले ही माने, गीता का अभिप्राय उससे स्पष्ट

(1) अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् । - गीता, 6.4 ।
बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेव: सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभ: ।। - वही, 7.19 ।

नहीं हो पायेगा। आत्मतत्व के प्रसंग में गीता की यह घोषणा भी सत्य है कि वह न जन्म लेता है, न मरता है, वह नित्य है, शाश्वत है, अविकारी है, स्थाणु है, अचल है, सनातन है।[1] वह एक ऐसा नित्य सत्य है कि जिसका जन्मादि से कोई संबंध नहीं है। इस भूमिका पर अनेकत्व निरर्थक है, सब में ओत-प्रोत एक ही आत्मतत्व है, वह अव्यय है, समस्त क्षेत्रों का क्षेत्रज्ञ है, निर्गुण है और गुणभोक्ता है। किसी अन्य दार्शनिक मत के नाते जो जीवात्मा के भेद और बहुत्व को एकान्तिक सत्य मानता है। हम उपर्युक्त एकत्व की अवहेलना करना चाहें तो भले ही करें, गीता का व्यापक अभिप्राय उससे बाधित नहीं हो सकता। यह भी सत्य है कि जीवात्मा परमतत्व पुरुषोत्तम का नित्यांश है, सनातन अंश है उस पुरुषोत्तम की पराप्रकृति जीवभूता है और समस्त जीवों का धारण करती है। समस्त जीव उसी परमात्मा से उद्भूत हैं, उसी में नित्य स्थित हैं, उसी-के हैं, उससे अभिन्न हैं। किसी एक मतवादी आग्रह के नाते हम इस सत्य को गौण बताने की चेष्टा में कोई असंगति घोषित करना चाहें तो भले ही करें गीता का संश्लिष्ट सत्य इससे खण्डित नहीं हो सकता।

उपर्युक्त सभी संदभों में जीवात्म तत्व का यथातथ्यात्मक समन्वित सत्य है। दार्शनिक तर्क की यह मांग हो सकती है कि यदि 'ऐक्य' सत्य है तो 'बहुत्व' को सत्य नहीं माना जाये अथवा यदि बहुत्व सत्य है तो ऐक्य को सत्य नहीं माना जाये, किन्तु गीता का उद्घाटन सत्य की अनुभूति से संबंधित है, वह तार्किक प्रतिपादन के अधीन नहीं है। एक व्यवस्थित दार्शनिक ज्ञानमीमांसा की यह भी अपेक्षा हो सकती है कि बहु श्रेणी

---

(1) न आयते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।

अजो नित्य· शाश्वतोऽयं पराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ -गीता, 2.20 ।

बद्ध ज्ञान में एक तारतम्य हो, किन्तु प्राय: उसमें उच्चतर ज्ञान निम्नतर को निरस्त कर देता है और अंतत: परमार्थ ज्ञान निम्नतर को निरस्त कर देता है और अंतत: परमार्थ ज्ञान समस्त व्यवहार को मिथ्या घोषित कर देता है, परन्तु गीता में एक विशाल ज्ञान विज्ञान सम्पन्न सत्य उद्घाटित हुआ है जिसमें अनुभूतियों की सभी श्रेणियाँ सुसमन्वित हैं और जिसमें अनुभवमयी ऊर्ध्वगामिनी चेतना का तारतम्य इसमें नहीं है कि उच्चतर अनुभूति निम्नतर अनुभूति के केवल मिथ्यात्व का संकेत करे, अपितु इसमें है कि उच्चतर के आलोक में निम्नतर का अर्थान्तरण हो और इस प्रकार अनुभूतियों की शृंखला एक सर्वांग सम्पन्न अनुभूति बने। गीता में ऐन्द्रिक, मानसिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक अनुभवों का तारतम्य देखा जा सकता है और उसमें आध्यात्मिक ज्ञान के शिखर पर आरोहण करने का स्पष्ट आदेश है किन्तु उस शिखर पर प्राप्त परमार्थ ज्ञान अन्योन्य अनुभवों का परिमार्जन करता है और व्यावहारिक जीवन का एक नया सम्पादन करता है, उसका तिरस्कार नहीं कर देता। इस प्रकार गीता पुन: पुन: ज्ञान के साथ विज्ञान को समन्वित करके सर्वांग सत्य का उद्घाटन करती है।[1]

ज्ञान-विज्ञान सहित समग्र सत्य परमात्म तत्व विश्वात्म तत्व तथा जीवात्म तत्व का एक ऐसा समन्वित अनुभवात्मक सत्य है कि जिसमें परस्पर अचिन्त्य अद्वैत तत्व सर्वातीत होते हुए भी सर्वमय सर्वान्तर्यामी सर्वभर्ता अनन्त विभूति सम्पन्न तत्व है। गीता में उसकी चर्चा दर्शनमयी है दर्शनशास्त्रीय नहीं और यह अनुभूति सम्पन्न है, योग साध्य

(1) रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययो : ।
प्रणव: सर्ववेदुषु शब्द: खे पौरुषं नृषु ॥
पुण्यो गन्ध: पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥ -गीता, 7.8,9

है।

स्पिनोजा तथा गीता के दर्शन में इस बात को लेकर सहमति है कि ईश्वर का ज्ञान सामान्य इन्द्रिय ज्ञान अथवा बौद्धिक ज्ञान के द्वारा नहीं प्राप्त किया जा सकता। दोनों ही दर्शनों में यह माना गया है कि ईश्वर का ज्ञान उच्चतर ज्ञान अथवा अनुभूति के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। इस उच्चतर ज्ञान के स्वरूप को लेकर दोनों ही दर्शनों अन्तर पाया जाता है। यह अन्तर मौलिक अन्तर है स्पिनोजा के दर्शन में प्रतिपादित उच्चतर ज्ञान जिसे वह प्रज्ञा अथवा प्रातिम ज्ञान कहता है। यह पाश्चात्य दार्शनिक परम्परा के बुद्धिवाद का प्रतिनिधित्व करता हैं गीता में प्रतिपादित उच्चतर ज्ञान जिसे दिव्य ज्ञान अथवा अपरोक्षानुभूति कहा जाता है यह भारतीय आध्यात्मिक परम्परा का प्रतिनिधित्व करता है।

गीता में दो प्रकार के ज्ञान का वर्णन प्राप्त होता है—एक वह जो बुद्धि के द्वारा वाह्य जगत् के अस्तित्व को समझने का प्रयत्न करता है और दूसरा वह जो अन्तर्दृष्टि के बल से इन भासमान् घटनाओं की शृंखला की पृष्ठिभूमि की जो परमतत्व है उसे ग्रहण करता है। जीवन के विवरणों को बुद्धि के द्वारा जानने का नाम विज्ञान है और यह साधारण ज्ञान से भिन्न है, अथवा समस्त जीवन के सामान्य आधार का सम्पूर्ण ज्ञान है, ये दोनों एक ही पुरुषार्थ के दो भिन्न पक्ष हैं। समस्त ज्ञान ईश्वर का ज्ञान है। विज्ञान और दर्शन दोनों ही अनादि-अनन्त आत्मा के अन्दर वस्तुओं के एकत्वरूपी सत्य को पहचानने का प्रयत्न करते हैं। विज्ञान विषयक ज्ञान रजोगुण प्रधान हैं एवं आध्यात्मिक ज्ञान सत्वगुण प्रधान हैं। अगर भौतिक विज्ञान के आंशिक तथ्यों को भूल से आत्मा संबंधी पूर्ण तथ्य समझ लें तो

हमें निम्न श्रेणी का ज्ञान प्राप्त होता है जिसमें निम्नतम् श्रेणी के तमो गुण का प्राधान्य रहता है।

जब तक हम भौतिक ज्ञान के स्तर पर रहते हैं, आत्म विषयक तथ्य केवल कल्पना मात्र रहता है। आन्तरहित परिणमन सत्स्वरूप को आवृत्त कर लेता है। विज्ञान उस अंधकार को दूर कर देता है जो मन के ऊपर एक प्रकार का बोझ है और अपने भौतिक जगत् की अपूर्णता को प्रदर्शित करता है और अपने से सुदूर जो सत्ता है उसे प्राप्त करने के लिए तैयार करता है। यह हमारे अन्दर नम्रता को भी अनुप्राणित करता है, क्योंकि इसके द्वारा हम सब कुछ नहीं जान सकते। हम अतीत की विस्मृति और भविष्य की अनिश्चितता के मध्य फँसे हुए हैं। विज्ञान इस बात को स्वीकार करता है कि पदार्थों के आदिकारणों से परिचित होने की काल्पनिक इच्छा करना और मनुष्य जाति का अन्त क्या है इस विषय पर कल्पना करना एक निरर्थक प्रयास है। अगर हमें परमसत् तक पहुँचना है तो (भौतिक) विज्ञान के स्थान में दूसरी ही साधना का आश्रय लेना होगा। गीता के अनुसार 'परिप्रश्न' अथवा अनुसन्धान के साथ-साथ सेवा का भी मेल होना आवश्यक है।[1] अन्तर्दृष्टि की शक्ति के विकास के लिए हमें मन को दूसरी दिशा में घुमाने की आवश्यकता है। अर्जुन अपने को साधारण दृष्टि के द्वारा सत्य के दर्शन में असमर्थ पाता है और इसलिए कृष्ण से आध्यात्मिक ज्ञान के लिए दिव्य दृष्टि की याचना करता है। अज्ञान बौद्धिक भ्रम नहीं है अपितु आध्यात्मिक अन्धापन है। इसे दूर करने के लिए हमें

(1) ताद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्वचदर्शिनः ॥ -गीता, 4.34 ।

शरीर एवं इन्द्रियों के मल को हटाकर आत्मा को निर्मल करना चाहिए एवं आध्यात्मिक दृष्टि को प्रज्जवलित करना चाहिए जो समस्त पदार्थों को एक नये दृष्टिकोण से देखती है। वासना की अग्नि और इच्छा की अशान्ति का दमन करना आवश्यक है।[1] चंचल और अस्थायी मन को एक प्रशान्त जलाशय की भाँति स्थिर रखना आवश्यक है जिससे कि उसके अन्दर ज्ञान ऊपर से ठीक-ठाक प्रतिबिम्बित हो सके। बुद्धि अथवा सत् और असत् में विवेक करने वाली शक्ति को प्रशिक्षित करना आवश्यक है।[2] यह शक्ति किस दिशा में कार्य करती है यह हमारे पूर्व के संस्कारों के ऊपर निर्भर करता है।

योग साधना हमें ऐसे निर्देश देती है जिनके द्वारा हम अपने को अपने परिवर्तनशील व्यक्तित्व से ऊपर उठाकर असाधारण प्रवृत्ति में ला सकते हैं जहाँ हमारे पास ऐसी कुंजी रहती है जो संबंधों रूपी समस्त नाटक का सूत्र है। योग साधना के निम्न अनिवार्य उपाय हैं। प्रथम– मन, शरीर एवं इन्द्रियों को पवित्र करना जिससे कि दैवीय शक्ति का उनके अन्दर संचार हो सके। द्वितीय– एकाग्रता, अर्थात इन्द्रियों की ओर दौड़ाने वाले विश्रृंखल विचारों की चेतना से मन को हटाकर उसे सर्वोपरि ब्रह्म में स्थिर करना। तृतीय– यथार्थ सत्ता तक पहुँचने के पश्चात् उसके साथ तादात्म्य स्थापित करना। गीता में हमें श्रद्धा रखने एवं विद्रोहात्मक मनोवृत्तियों का दमन करने का आदेश दिया गया है और ईश्वर

---

(1) श्रद्धावोंल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्धवा परां शान्तिम् चिरेणाधिगच्छति।। -गीता, 4. 39 ।

(2) भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ।। -वही, 2. 44 ।

के विचार को दृढ़ता के साथ धारण करने का आदेश है। मौन अवस्था में, जो मन को वश में करने से ही संभव है, हम आत्मा के शब्द को सुन सकते हैं। यथार्थ योग है जो हमें आध्यात्मिक निष्पक्षता अर्थात् समत्व प्राप्त करा सके।[1] योग ऐसी दु:ख से मुक्त अवस्था का नाम है जिसमें एक ऊपर से छाये हुए स्थान में रखे दीपक की भाँति मन प्रकम्पित नहीं होता, जिस अवस्था में आत्मा के द्वारा आत्मा का प्रत्यक्ष कर लेने पर मनुष्यों के अन्दर संतोष अनुभव करता है, जहाँ मनुष्य को ऐसे परम आनन्द का अनुभव होता है जो केवल बुद्धि द्वारा ग्रहण करने का विषय है परन्तु इन्द्रियों की पहुँच से सदा बाहर है और जहाँ पर आसीन होकर मनुष्य पुन: सत्य मार्ग से भ्रष्ट नहीं होता, जहाँ अन्य किसी प्रकार का लाभ उससे अधिक-महत्व का नहीं है और जिस अवस्था में अवस्थित हो जाने पर मनुष्य बड़े कष्ट से भी विचलित नहीं होता।[2] आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि प्राप्त करने के लिए सबको योग के अभ्यास की आवश्यकता नहीं है। आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि में कर्म और उपासना भी सहायक हो सकते हैं।

कुछ अवस्थाओं में आध्यात्मिक प्रशिक्षण के लिए योग की उपयोगिता को स्वीकार करते समय गीता इसके भयावह परिणामों से भी अनभिज्ञ नहीं है। उपवास और इसी प्रकार के अन्य उपायों से हम केवल अपनी इन्द्रियों की शक्ति को ही क्षीण करते हैं जबकि

---

(1) योगस्थ: कुरु कर्माणि संग: त्यक्त्वा धनजंय ।
हसद्धयसिद्धयो: समो भूत्वा समत्वं योग उच्चते ॥ -गीता, 2. 48 ।

(2) यथा दीपो निवातस्थो नेइ. गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युन्जतो योगमात्मन: ॥ -वही, 6. 19 ।

इन्द्रियों की विषयोपभोग की लालसा वैसी ही बनी रहती है जिसकी आवश्यकता है वह है इन्द्रियों को वश में करना और भौतिक पदार्थों के आकर्षण के प्रति उपेक्षा का भाव रखना। यह मात्र ज्ञान के उदय से ही संभव है।

आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि, जो स्वरूप में साक्षात्कार कराने में अधिक समर्थ है ऐसा निश्चयात्मक ज्ञान नहीं देती जिसकी समालोचना न हो सके। यह ज्ञान का कठोर तपस्या और रजोवृत्ति के साथ संयोग है, और यह एक ऐसा पूर्ण अनुभव है जो हमें प्राप्त होना संभव हो सका है जिससे मन को किसी प्रकार की दुविधा न रहकर आत्मा की सच्ची शक्ति तथा विशान्ति का सुखोंपभोग प्राप्त हो सकता है।

ईश्वर का दर्शन आध्यात्मिक प्रकाश तथा सुख के वातावरण में प्राप्त होता है। सम्पूर्ण जीवन की महत्वाकांक्षा एक प्रकार से अनन्त की निरन्तर आराधना बन जाती है। ज्ञाता भी एक भक्त है और उन सबमें श्रेष्ठ है।[1] "जो मुझे जानता है, मेरी पूजा करता है।"[2] सत्य का ज्ञान अपने हृदय को सर्वोपरि ब्रह्म के प्रति ऊँचा उठाना, उसे स्पर्श करना और उसकी अर्चना करना है।[3] एक क्रियात्मक प्रभाव भी है। हमारे समक्ष बुद्ध का

---

(1) तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽयर्थमहं स च मम प्रियः ॥ -गीता, 7. 17 ।

(2) यो मामे वमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्जति मां सर्वभावेन भारत ॥ -वही, 15. 19 ।

(3) अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्व प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥
मच्चित्ता मद्गतप्राणां बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति चह रमन्ति च ॥ -वही, 10. 8, 9 ।

उदाहरण है जो सबसे बड़े ज्ञानी व धर्मात्मा थे। मनुष्य मात्र के प्रति उनके प्रेम ने उन्हें निरन्तर चालीस वर्षों तक मनुष्य मात्र का शासक बनाकर रखा।

कभी-कभी ऐसा तर्क किया जाता है कि ज्ञान अथवा बुद्धि का नैतिकता के प्रति उपेक्षा का भाव रहता है। यह कहा जाता है कि बुद्धि चरित्र का अनिवार्य अंश नहीं है। बुद्धि के द्वारा हम केवल निर्णय संबंधी भूले ही करते हैं जो नैतिक दृष्टि से अनुचित कही जायेगी। बुद्धि स्वयं में न अच्छी है न बुरी है क्योंकि इसका प्रयोग सदाचारमय जीवन की उन्नति तथा विनाश दोनों ही कार्यों में किया जा सकता है। हमारे विश्लेषणात्मक ज्ञान की प्राप्ति के संबंध में यह सब सही हो सकता है। गीता का ज्ञान हमें एकपक्षीय मतों एवं संकुचित दृष्टिकोण से हटाकर सर्वग्राही सत्य की ओर ले जाता है जहाँ हमें यह अनुभव होता है कि मनुष्यों के अन्दर परस्पर मतभेद परम रूप में कोई अस्तित्व नहीं रखते और ऐसा कोई भी आचरण, जिसका आधार मिथ्या भेदों के ऊपर है, धार्मिक कहा जा सकता है। प्रायः हम देखते हैं कि मनुष्यों के जीवन का मूल्य एक ही है और एक स्वयंसिद्ध अनादि-अनन्त आत्मा सब मनुष्यों के जीवन में जीवित रूप में समान शक्ति के साथ कार्य कर रही है। इस सत्य का साक्षात्कार हो जाने पर इन्द्रियाँ एवं जीवात्मा दोनों ही अपनी शक्ति से वंचित हो जाते हैं।[1]

स्पिनोजा तथा गीता के तत्व चिन्तन को रहस्यवाद कहा जाता है। इसका कारण यह

(1) विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ।। -गीता, 2. 59 ।

है कि दोनों दर्शनों में तत्व चिन्तन का निर्वचन उच्चतर अनुभूति अथवा उच्चतर ज्ञान के आधार पर किया गया है। दोनों दर्शनों में यह माना गया है कि ईश्वर का स्वरूप बुद्धि द्वारा ग्राह्य नहीं हो सकता क्योंकि ईश्वर अनन्त है। अनन्त का ज्ञान न तो बुद्धि द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। और न ही बुद्धि के द्वारा उसका विश्लेषण ही किया जा सकता है। उच्चतर ज्ञान अथवा उच्चतर अनुभूति बुद्धि से परे की स्थिति है। इसमें प्राप्त ज्ञान के विषय को बौद्धिक दृष्टि से अथवा वैज्ञानिक दृष्टि से सत्यापित नहीं किया जा सकता। इसके केवल अनुभव किया जा सकता है तथा इसे जो अनुभव करेगा वही सत्यापित भी कर सकता है। स्पिनोजा के अनुसार ईश्वर अनन्त धर्मात्मक है तथा उसमें अनन्त गुण है। हम अपनी बुद्धि द्वारा उसके चित् और अचित् दो ही गुणों को जान सकते हैं। स्पिनोजा कहते हैं कि ईश्वर अनन्त है तथा उसका ज्ञान हमें प्रज्ञा द्वारा होता है। इसलिए स्पिनोजा तथा गीता के रहस्यवाद की वैसे ही आलोचना की जाती है जैसे सामान्य तौर पर रहस्यवाद की आलोचना की जाती है।

स्पिनोजा तथा गीता के रहस्यवाद के तुलनात्मक अध्ययन में सबसे महत्वपूर्ण बात यह पायी जाती है कि स्पिनोजा का तत्व चिन्तन तार्किक, अकारिक तथा यांत्रिक जैसा प्रतीत होता है। इसकी अपेक्षा गीता का तत्व चिन्तन आस्था, संप्रयोजन तथा उद्देश्य पूर्ण प्रतीत होता है। स्पिनोजा के दर्शन में यह प्रतिपादित किया गया है कि ईश्वर से जगत् की सृष्टि की अभिव्यक्ति होना स्वाभाविक तथा तार्किक आवश्यकता है। स्पिनोजा के अनुसार ईश्वर से जगत् की अभिव्यक्ति वैसे ही स्वाभाविक रूप से होती है जैसे एक

अनुसार जीव तथा जड़ जगत् ईश्वर के गुण हैं। इनके आधार के रूप में ईश्वर ही है। इस प्रकार ईश्वर इनमें अन्तरभूत है तथा इस प्रकार सब कुछ ईश्वर रूप ही है। ईश्वर के साथ जीवात्मा तथा जगत् के संबंध की व्याख्या समुचित रूप से नहीं हो पाती। जगत् की सृष्टि में किसी प्रयोजन का होना स्पिनोजा नहीं मानता। इसलिए सारी प्रक्रिया यंत्रवत् सी लगती है। इच्छा स्वातन्त्र अथवा जीवन के किसी प्रयोजन अथवा लक्ष्य की व्याख्या स्पिनोजा के दर्शन के आलोक में नहीं हो पाती। इसके विपरीत गीता के दर्शन में जगत् की सृष्टि को सोद्देश्य तथा लीला के रूप में माना गया है। सृष्टि का उद्देश्य जीवात्माओं की भलाई करना है। जीव और जगत् को ईश्वर का अंश माना गया है। गीता के दर्शन का लक्ष्य मनुष्य को आत्म साक्षात्कार कराना अथवा स्थितप्रज्ञ की अवस्था प्राप्त कराना है जो पूर्णता की अवस्था है।

(ख) श्री अरविन्द और ब्रैडले के रहस्यवाद का तुलनात्मक अध्ययन :

भारतीय दार्शनिक परिपेक्ष्य में श्री अरविन्द रहस्यवादी चिन्तक के रूप में जाने जाते हैं तो दूसरी ओर ब्रैडले भी पाश्चात्य दार्शनिक परिपेक्ष्य में एक रहस्यवादी विचारक के रूप में हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं। दोनों को ही रहस्यवादी इसलिए कहा जाता है क्योंकि दोनों ने ही परमसत् के स्वरूप पर प्रकाश डाला है।

श्री अरविन्द और ब्रैडले की परमसत् विषयक अवधारणा की तुलनात्मक विवेचना के संदर्भ में सर्वाधिक महत्वपूर्ण मिलन बिन्दु परमसत् की सर्वग्राहिता की प्रवृत्ति है। श्री अरविन्द के अनुसार परमसत् सर्वग्राही है। यह अस्तित्व के समस्त पक्षों को अपनी सर्वसमावेशी एकता में समाविष्ट करता है। श्री अरविन्द के अनुसार निर्गुण और सगुण,

एक और अनेक, सत् और संभूति एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं अपितु ये सत् के पूरव पक्ष हैं। बुद्ध और हेराक्लीट्स जैसे कुछ महान दार्शनिक संभूति को ही परमसत् मानते हैं। वस्तुतः ये शुद्ध सत् की यथार्थता का पूर्णता निषेध करने के लिए प्रवृत्त हो जाते है परन्तु श्री अरविन्द संभूति को शुद्ध सत् की क्रिया के रूप में स्वीकार करते हैं। शंकर की तरह श्री अरविन्द संभूति को अयथार्थ नहीं मानते हैं। इनके अनुसार सत् ही संभूति का आधार है। इस प्रकार संभूति सत् पर आधृत है। श्री अरविन्द के अनुसार ब्रह्म की शान्त निश्चलता एवं उसकी क्रियात्मक शक्ति एवं गति में विरोध नहीं है। उनके अनुसार केवल शान्त निश्चल एवं निष्क्रिय अनन्त अर्थात ऐसा अनन्त जो अनन्त शक्ति और ऊर्जा से रहित माना ही नहीं जा सकता है। शक्तिहीन निरपेक्ष कल्पना में नहीं आ सकता है। वस्तुतः अनन्त ऊर्जा परमसत् की क्रियात्मक शक्ति होनी चाहिए। इस प्रकार श्री अरविन्द के अनुसार ब्रह्म की शान्त निश्चलता ही सृष्टि की ऊर्जा एवं गति को धारण करती है। इस प्रकार ब्रह्म की शान्त निश्चलता एवं क्रियात्मकता परस्पर पूरक एवं अपृथक्करणीय है। इस प्रकार श्री अरविन्द का परमसत् सर्वग्राही है।

ब्रैडले के अनुसार भी परमसत् सर्वग्राही है। परमसत् की सर्वग्राही एकता में सम्पूर्ण दृश्य जगत् समाविष्ट है। इसमें मूर्त वस्तुओं का नानात्व सम्मिलित है। ब्रैडले इसे मूर्त सामान्य कहते हैं। सम्पूर्ण आभास परमसत् में समाविष्ट है। परमतत्व के भीतर कोई भी आभास लुप्त नहीं हो सकता है। सर्व की एकता में प्रत्येक का योग है और उसके लिए प्रत्येक अनिवार्य है।[1] किसी भी एक पक्ष अथवा तत्व से रहित होने पर चरमतत्व को

---

(1) ब्रैडले : आभास और सत् , पृष्ठ सं० 398 ।

निरर्थक कहा जा सकता है। कोई भी तत्व कितना ही गौण क्यों न हो वह उस अपेक्षाकृत सर्व में सुरक्षित रह जाता है जिसमें उसका स्वरूप समाविष्ट होकर विलीन हो जाता है। जगत् का प्रत्येक क्षेत्र एवं स्तर परमसत् के भीतर एक आवश्यक तत्व होता है। वस्तुतः प्रतीति के सभी विषय सत् में समाविष्ट हैं। ब्रैडले के अनुसार आभास सत् की सम्पत्ति है। उनका वक्तव्य है कि चरमतत्व की आभासों के अतिरिक्त कोई अन्य सम्पत्ति नहीं है। वस्तुतः वह आभासों के द्वारा ही समृद्धि होता है। परमसत् के भीतर सभी शुभाशुभ, सुख, दुःखादि एवं आभास समावृष्टि हैं। अतः ब्रैडले के अनुसार सभी आभास परमसत् की सर्वग्राही एकता में सामंजस्य युक्त ढंग से अवस्थित हैं। परन्तु आभास जिस तरह हमें प्रतीत होते हैं उसी तरह परमसत् में अवस्थित नहीं हैं। अपितु आभास परमसत् में परिवर्तित होकर अवस्थित होते हैं। सभी आभासों में एक ही तरह का परिवर्तन नहीं होता है अपितु कुछ आभासों में अधिक परिवर्तन अपेक्षित होता है जबकि कुछ आभासों को परमसत् की सर्वग्राही एकता में समाविष्ट होने के लिए कम परिवर्तन की अपेक्षा होती है। जिन आभासों को कम परिवर्तन की अपेक्षा होती है उनमें सत्यता की मात्रा उतनी ही अधिक मानी जाती है। इस प्रकार सभी आभास परमसत् की सर्वग्राही एकता में परिवर्तित होकर सामंजस्य युक्त ढंग से समाविष्ट हैं। अतः यह स्पष्ट है कि श्री अरविन्द और ब्रैडले दोनों ही परमसत् की सर्वग्राहिता का प्रतिपादन करते हैं। परन्तु जहाँ दोनों में इस बात को लेकर साम्य है कि परमसत् सर्वग्राही है वहीं सर्वग्राहिता के स्वरूप पर जब हम विचार करते हैं तब हम इन दोनों दार्शनिकों की सर्वग्राहिता की अवधारणा में वैषम्य भी स्पष्ट हो जाता है। श्री अरविन्द परमसत् की समग्रता का प्रतिपादन करते हैं। उनके अनुसार परमसत् निर्गुण भी है तथा सगुण भी है। यह एक ही साथ एक एवं अनेक, शान्त-निश्चल एवं गतिशील तथा अनन्त एवं सान्त है। इस प्रकार ये अस्तित्व के समस्त पक्षों

को अपनी सर्वसमावेशी एकता में समाविष्ट करता है। परन्तु साथ ही यह उन सब का अतिक्रमण भी करता है। परमसत्ता समग्र दृष्टिकोण सत्ता के समस्त पक्षों– व्यक्ति, विश्व तथा विश्वातीत की यथार्थता को स्वीकार करता है। इस समग्र दृष्टिकोण के अनुसार परमसत् सत् एवं संभूति, एक एवं अनेक, अनन्त एवं सान्त भी है तथा उसी समय यह उन सबका अतिक्रमण भी करता है। इस प्रकार श्री अरविन्द का परमसत् विश्वातीत एवं अन्तवर्तित दोनों ही है। जैसा कि उनका वक्तव्य है " आध्यात्म अनुभव का सर्वप्रथम सत्य यह है कि एक निरपेक्ष, नित्य और अनन्त सत-चित्-आनन्द है जो विश्व से अतीत होते हुए भी उसे गुह्य रूप से धारण करता है और उसमें व्याप्त है।[1]" पुन: उन्हीं के शब्दों में "समस्त यथार्थताएँ, समस्त पक्ष और समस्त प्रवृत्तियाँ ब्रह्म हैं, ब्रह्म निरपेक्ष, परात्पर और अव्यवहार्य है, ब्रह्म वह विश्वातीत सत् है जो विश्व को धारण करता है परन्तु वह प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा भी है।[2]" अत: संक्षेप में परमसत् ऐसा है जो अस्तित्व के समस्त पक्षों को धारण करता है परन्तु साथ ही उनका अतिक्रमण भी करता है। दूसरी ओर हम देखते हैं कि ब्रैडले के अनुसार "जिसको आभास कहकर छोड़ दिया जाता है वह अवस्तु नहीं है और उसको मूर्त रूप में टाल देना अथवा उससे छुटकारा पा लेना संभव नहीं है। आभास का कहीं-न-कहीं संबंध होना आवश्यक है एवं वह अवश्य ही सत् से संबंधित होगा। परमसत् आभास को अस्वीकार नहीं कर सकता और न स्वयं ही आभास से कम हो सकता है।[3]" परन्तु सत् भी आभास से अधिक नहीं हो सकता है

---

(1) श्री अरविन्द : दिव्य जीवन, पृष्ठ सं० 42 ।

(2) वही, पृष्ठ सं० 47 ।

(3) ब्रैडले : आभास और सत् , पृष्ठ सं० 109 ।

क्योंकि हम सामान्यत: यह कह सकते हैं कि परमसत् की आभासों से परे अन्य कोई सम्पत्ति नहीं है। यद्यपि ब्रैडले कहते हैं कि यदि परमसत् में केवल आभास ही है तो वह दिवालिया हो जायेगा एवं वे आभासों के रूपान्तरण की अवधारणा को प्रतिपादित करते हैं तथापि अन्तत: आभास ही तो रूपान्तरित होकर परमसत् की सर्वग्राही एकता में समाविष्ट है जिनके द्वारा वह समृद्ध होता है। अत: यह स्पष्ट है कि आभास रूपान्तरित होकर परमसत् की सामंजस्य युक्त एकता में समाविष्ट है एवं अनके अतिरिक्त उसकी अन्य कोई सम्पत्ति नहीं है। इस प्रकार ब्रैडले के अनुसार सत् पूर्णत: अन्तवर्तित है। आभासों के प्रत्येक क्षेत्र में चरमतत्व समान रूप से व्याप्त हो जाता है। अर्थात् ऐसी कोई भी नगण्य या तुच्छ वस्तु नहीं है जिसका परमसत् में स्थान न हो। प्रत्येक आभास का परमसत् की एकता में योग है। सभी आभास परमसत् के लिए अनिवार्य हैं परन्तु श्री अरविन्द का परमसत् सर्वग्राही होते हुए भी अस्तित्व के समस्त पक्षों का अतिक्रमण भी करता है। इस प्रकार इस विश्वातीतता के तथ्य को लेकर दोनों ही दार्शनिकों की परमसत् विषयक सर्वग्राहिता के अवधारणा में वैभिन्य हो जाता है।

श्री अरविन्द के अनुसार जगत् परमसत् की ही अभिव्यक्ति है। यह परमसत् की लीला का विकास है। अत: यह अवश्य ही सत्य होगा क्योकि सत् की अभिव्यक्ति भी सत् ही होगी। ब्रैडले की यह अवधारणा है कि आभास सत् के ही आभास हैं। वस्तुत: उनकी स्थापना है कि केवल सत् ही प्रतीत हो सकता है असत् कथमपि प्रतीत नहीं हो सकता है। किसी भी वस्तु को आभास कर देने से उसका अस्तित्व समाप्त नहीं हो जाता है अपितु उस वस्तु का अस्तित्व आभास होने से ही सिद्ध हो जाता है क्योकि ब्रैडले के अनुसार जो प्रतीत होता है अथवा जो आभासित होता है वह सत् के बाहर नहीं हो सकता

है। इस प्रकार हम देखते हैं कि श्री अरविन्द के अनुसार जगत् परमसत् की अभिव्यक्ति है एवं ब्रैडले के अनुसार आभास सत् के आभास हैं। अतएव श्री अरविन्द की जगत् संबंधी अवधारणा तथा ब्रैडले की आभास संबंधी अवधारणा में इस तथ्य को लेकर इतना तो अवश्य सामने हैं कि ये दोनों ही सत् पर आधारित हैं। परन्तु श्री अरविन्द जगत् को आभास नहीं कहते हैं। वे व्यक्ति तथा विश्व को सत् की ही एक विशेष अवस्था मानते हैं। उनका वक्तव्य है कि जिस व्यक्ति ने आध्यात्म भाव को प्राप्त किया है वह इस नवीन चेतना में यह देखता है कि उसका सच्ची आत्मा विश्वातीत के साथ स्वरूपत: एक है और साथ ही उसके भीतर स्थित एवं निवास करती है।[1] वे कहते हैं कि विश्वसत्ता सदा ही व्यक्तिगत सत्ता को अपने अन्तर्गत रखती है। अत: विश्व और व्यक्ति सर्वदा एक दूसरे से संबद्ध हैं एवं अपने व्यावहारिक संबंधों में एक दूसरे पर निर्भर करते हैं परन्तु व्यक्ति भी अंतत: विश्व को अपनी चेतना के अन्तर्गत करता है, ऐसा उसकी पूर्ण और विशाल आत्मचेतना की प्राप्ति के द्वारा संभव होता है। अतएव हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि व्यक्ति सदा ही विश्व को अपने अन्तर्गत करता था। केवल उसकी चेतना ही अज्ञानवश एवं अहंकार में आत्म सीमित होने के फलस्वरूप उसे ग्रहण करने में असमर्थ है परन्तु जब हम विश्व और व्यक्ति की पारस्परिक एकता की चर्चा करते हैं अर्थात जब हम यह कहते हैं कि विश्व मेरे भीतर है एवं मैं विश्व में हूँ तो वस्तुत: मुक्तावस्था में भी यही आत्मानुभूति होती है एवं ऐसी स्थिति में स्पष्टत: सामान्य बुद्धि से परे पहुँच जाते हैं। इस

---

(1) श्री अरविन्द : दिव्य जीवन, पृष्ठ सं० 92 ।

प्रकार यह पारस्परिक एकता आध्यात्मिक है। श्री अरविन्द का वक्तव्य है कि विश्व और व्यक्ति उस विश्वातीत परमात्मा की अभिव्यक्तियाँ हैं जो कि अविभक्त हैं, यद्यपि विभक्त वितरित जैसी प्रतीत होती है परन्तु यथार्थ में वह विभक्त या वितरित नहीं हैं अपितु अविभक्त रूप से ही सर्वत्र विद्यमान है। इसलिए सर्व प्रत्येक में है और प्रत्येक सर्व में है और ईश्वर सर्व में है और सर्व ईश्वर में है। जिस समय मुक्तात्मा इस विश्वातीत परमात्मा के साथ युक्त होता है तो उसे अपने और विश्व के विषय में यही आत्मानुभव होता है।[1] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि व्यक्ति और विश्व दोनों ही विश्वातीत परमसत् की अभिव्यक्तियाँ हैं एवं इनमें पारस्परिक एकता है। वस्तुत: विश्वसत्ता के साथ जो हमारा ऐक्य है वह एक ऐसे आत्मा का ज्ञान (चेतना) है जो कि एक ही काल में व्यक्ति भाव को धारण करता है, वह आत्मा ऐसा करके उस विश्वसत्ता (विश्व) में और व्यक्तिगत सत्ता (जीव) में और समस्त व्यक्तिगत सत्ताओं (जीवों) में वह जानता है कि वही एक आत्मा अपने आपको अभिव्यक्त कर रहा है और अपनी विभिन्न अभिव्यक्तियों का अनुभव कर रहा है। वह आत्मा स्वरूपत: एक ही होनी चाहिए अन्यथा हमें इस ऐक्य का अनुभव नहीं हो सकता परन्तु ऐक्य को रखते हुए भी वह विश्वीय भेद की और बहुव्यक्तित्व को प्रकट करने में समर्थ होनी चाहिए। ऐक्य उसका स्वरूप है यह ठीक है किन्तु विश्वीय भेद और बहुव्यक्तित्व उसके स्वरूप के, उसकी सत्ता की शक्ति है जिसे कि वह निरन्तर प्रकट कर रहा है और इस प्रकार प्रकट करना उसका आनन्द और उसकी चेतना का

---

(1) श्री अरविन्द : दिव्य जीवन, पृष्ठ सं० 98 ।

स्वभाव है।[1] इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि परमसत् के लिए न तो विश्व को अभिव्यक्त करने में कोई कठिनाई है एवं न तो उसे विश्व को अभिव्यक्त करते हुए उससे अतीत बने रहने में भी कोई कठिनाई है। वस्तुत: समस्या केवल हमारी मानसिक सीमाओं के लिए है। हमारी मानसिक सीमाएं हमें अनन्त एवं सान्त के सहअस्तित्व की अतिमानसिक युक्ति-युक्तता को ग्रहण करने से रोकती हैं। हमारी सीमित बुद्धि के लिए यह विरोधी हैं परन्तु अतिमानसिक तर्क के लिए यह एक ही परमतत्व की ऐसी अभिव्यक्तियाँ है जो परस्पर संबद्ध है एवं जिनमें कोई संघर्ष नहीं है।

इस प्रकार व्यक्ति तथा विश्व परमसत् की ही अवस्थाएं हैं। यह विश्व निरर्थक और निरुद्देश्य भ्रम नहीं है अपितु इसका कुछ न कुछ अर्थ और लक्ष्य अवश्य ही है। श्री अरविन्द के अनुसार वह अर्थ विश्वातीत् , ज्योर्तिमय, परमार्थ तत्व को क्रमश: अधिकाधिक प्रकाशित करना है। उनका वक्तव्य है कि व्यक्ति (जीव) और वैश्व (विश्व) का विश्वातीत सच्चिदानन्द के उस दिव्य ज्योति, दिव्य शक्ति, दिव्य आनन्द को समाहित करना जो कि उनसे ऊपर सदा अभिव्यक्त है, उनके प्रतीयमान रूपों के पीछे सदा गुप्त रूप में विद्यमान है, यही दिव्य क्रीड़ा का , लीला का गूढ़ अभिप्राय चरम सार्थकता है। परन्तु दिव्य ज्योति, शक्ति और आनन्द का मिलन स्वयं व्यक्ति और विश्व के भीतर उसके रूपान्तर के होने पर और साथ ही उनके अस्तित्व में रहते हुए और पूर्ण संबंधों के बने रहने पर ही होना चाहिए न कि उनके आत्मविनाश कर लेने पर।

यदि व्यक्ति और विश्व का अस्तित्व और उनके परस्पर संबंध सदा के लिए नष्ट हो

---

(1) श्री अरविन्द : दिव्य जीवन, पृष्ठ सं० 92-93 ।

जाने वाले हों तो उनके अस्तित्व में आने का कुछ भी हेतु नहीं होगा। जीव (व्यक्ति) के भीतर ब्रह्म के मिलन की संभावना इस ज्ञान-अज्ञान में विश्व की पहेली का गुप्त रहस्य है, ब्रह्म की जीव और जगत के भीतर उपस्थिति और वहाँ अपने आपको समाहित करने का उसका यह अभिप्राय इस विश्व की पहेली की कुंजी है। तात्पर्य है कि व्यक्ति एवं विश्व दोनों ही विश्वातीत परमार्थ तत्व की अवस्थाएँ हैं एवं इनका लक्ष्य विश्वातीत सच्चिदानन्द को अपने में समाहित करना है। वस्तुत: मन, प्राण एवं भौतिक तत्व का जो यह जगत् है यह सच्चिदानन्द के अवतरण के एक विशेष अवस्था में प्रकट होता है। भौतिक तत्व में परमसत् लीन होते होते ऐसा प्रतीत होता है कि उसमे चेतना का सर्वथा अभाव हो गया है परन्तु वस्तुत: वहाँ चैतन्य का अभाव नहीं है अपितु चैतन्य वहाँ सुप्त है अर्थात् भौतिक तत्व में चेतना निद्रा की प्रगाढ़ता में है। इस प्रकार भौतिक तत्व में चैतन्य अवश्य ही है। इसलिए भौतिक तत्व से प्राण विकसित होता है। श्री अरविन्द की मान्यता है कि यदि भौतिक तत्व में प्राण पहले से ही लीन न होता तो उसमें से प्राण का विकास ही नहीं होता। अर्थात् भौतिक तत्व में से प्राण इसीलिए विकसित होता है कि उसमें प्राण पहले से ही विद्यमान है। इसी तरह प्राण में से मन इसीलिए विकसित होता है कि उसमें मन पहले से ही विद्यमान है। इस प्रकार हम देखते हैं कि श्री अरविन्द के दर्शन में भौतिक तत्व में प्राण तथा मन के स्तर तैयार हो जाते हैं परन्तु वस्तुत: ये परमसत् स्तर नहीं हैं अपितु यह सत् की अभिव्यक्तिक स्तर हैं। वस्तुत: भौतिक तत्व में भी ब्रह्म अपनी पूरी क्षमता के साथ विद्यमान है परन्तु वहाँ वह गुप्त रूप से विद्यमान है। प्राण के स्तर पर वह कुछ अधिक अभिव्यक्त हो जाता है। इस प्रकार उसकी अभिव्यक्ति के विभिन्न स्तर हैं– मन, उच्चतर मन, प्रदीप्त मन, ऊर्ध्व मन तथा अतिमन।

ब्रैडले के आभास की अवधारणा पर जब हम दृष्टिपात करते है तब हम यह पाते हैं कि उनके यहाँ आभासों में उच्चतर एवं निम्नतर का एक क्रम है। वे कहते हैं कि दो आभासों में से जो आभास अधिक विस्तृत या अधिक सामंजस्य युक्त है वह अधिक यथार्थ है। इस प्रकार हम देखते हैं कि श्री अरविन्द के अनुसार भौतिक तत्व, प्राण तथा मन का जो यह जगत् है उसमें स्तर हैं तथा ब्रैडले के अनुसार भी कुछ आभास उच्चतर हैं तथा कुछ आभास निम्नतर हैं अर्थात आभासों में यथार्थता की मात्रा का अन्तर है। इस प्रकार श्री अरविन्द ही जगत् की अवधारणा में तथा ब्रैडले की आभास संबंधी अवधारणा में इस बात को लेकर अवश्य ही साम्य है। परन्तु जहाँ इस तथ्य को लेकर साम्य है कि श्री अरविन्द के अनुसार भौतिक तत्व प्राण तथा मन के स्तर हैं एवं ब्रैडले के अनुसार आभासों में यथार्थता की मात्रा के आधार पर श्रेणी भेद है वहीं कुछ बातों को लेकर विभिन्नता भी स्पष्ट है। वस्तुतः श्री अरविन्द के अनुसार भौतिक तत्व, प्राण तथा मन के जो स्तर हैं ये परमसत् स्तर नहीं हैं अपितु ये परमसत् की अभिव्यक्ति के स्तर हैं। भौतिक तत्व प्राण तथा मन के स्तर मानने पर भी यथार्थता श्री अरविन्द यह नहीं मानते हैं कि एक तत्व दूसरे की अपेक्षा कम या अधिक सत्य हैं। उनके अनुसार भौतिक तत्व भी उतना ही यथार्थ है जितना कि प्राण एवं मन। वस्तुतः इनकी अभिव्यक्ति में अन्तर है। भौतिक तत्व की अपेक्षा प्राण अधिक अभिव्यक्त है एवं प्राण की अपेक्षा मन अधिक अभिंव्यक्त है। इस प्रकार इन तीनों में से अभिव्यक्ति का ही अन्तर है। मूल रूप में इनमें एक ही चेतना विद्यमान है जो विभिन्न स्तरों पर अपने को विभिन्न ढंग से अभिव्यक्त कर रही है। परन्तु ब्रैडले के अनुसार आभासों में यथार्थता की मात्रा के अनुसार ही भेद है। जिस आभास में यथार्थता की अधिक मात्रा है वह आभास अधिक सत् है। ब्रैडले के अनुसार जिस आभास को परम सत् की सर्वग्राही एकता में समाविष्ट होने के लिए जितना ही

परिवर्तन अपेक्षित होता है वह आभास उतना ही कम सत् होता है। इस प्रकार श्री अरविन्द की जगत् संबंधी अवधारणा तथा ब्रैडले की आभास अवधारणा में विभिन्नता स्पष्ट है। साथ ही ब्रैडले के दर्शन में विकास की भी कोई अवधारणा नहीं है जबकि श्री अरविन्द के अनुसार भौतिक तत्व, प्राण, मन तथा अतिमन विकास की अभिन्न अवस्थाएं हैं जिनसे होती हुई विकास की प्रक्रिया अन्त में सच्चिदानन्द तक पहुँचती है।

श्री अरविन्द और ब्रैडले की परमसत् विषयक अवधारणा में जो सर्वाधिक महत्वपूर्ण भेद है वह इन दोनों ही दार्शनिकों की परम्परा भेद के कारण है। श्री अरविन्द उस भारतीय आध्यात्मवादी परम्परा का प्रतिधित्व करते हैं जिसका प्रारम्भ वेदों एवं उपनिषदों में होता है। इस परमतत्व के साक्षात्कार के लिए भारतीय चिन्तन परम्परा योग एवं साधना की एक निश्चित पद्धति का विधान करती है। इस परमतत्व के साक्षात्कार का विधान श्री अरविन्द भी करते हैं। उनके अनुसार भी इस परमतत्व के साक्षात्कार के लिए योग का साधन स्वीकार किया गया है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि विभिन्न भारतीय दर्शनों में योग का भिन्न-भिन्न स्वरूप स्वीकार किया गया है तथापि तत्व के साक्षात्कार तथा उससे तादात्म्य के लिए वैदिक दर्शनों में योग के साधन को स्वीकार किया गया है। यद्यपि श्री अरविन्द के अनुसार विकास प्रक्रिया में सभी मनुष्य परमसत् के साथ तादात्म्य कर लेंगे तथा वे विज्ञानमय प्राणी हो जायेंगे एवं इस प्रकार विज्ञानमय प्राणियों का समाज होगा तथापि उनकी मान्यता है कि इस विकास प्रक्रिया में शीघ्रता करने के लिए समग्र योग का सहारा लेना होगा। इस समग्र योग के द्वारा व्यक्ति का द्रुतगामी एवं आमूल्य रूपान्तरण संभव है। योग शब्द की व्याख्या करते हुए श्री अरविन्द कहते हैं कि इस शब्द से हमारा तात्पर्य सत्ता में प्रसुप्त क्षमताओं की अभिव्यक्ति के द्वारा आत्म-परिपूर्णता के लिए किया

गया विधिबद्ध प्रयत्न और मानव व्यक्ति का उस विश्वव्यापी और परात्पर सत्ता के साथ मिलन है जिसे हम मनुष्य और विश्व में अंशत: अभिव्यक्त होता हुआ देखते हैं।[1] इस योग शब्द की व्याख्या करते हुए पुन: श्री अरविन्द कहते हैं कि " मानव और वैयक्तिक चेतना का दिव्य चेतना के साथ संबंध ही योग का सारतत्व है। जो चीज विश्व की क्रीड़ा में अलग हो गई थी उसका अपना सच्ची सत्ता के साथ, अपने स्रोत और अपनी वैश्वता के साथ मेल इसी का नाम योग है।"[2] योग शब्द संस्कृत के 'युज' धातु से निष्पन्न हुआ है और इसका अर्थ है जोड़, मेल, मिलाप आदि। इस प्रकार इस शब्द का जो उत्पत्ति मूलक अर्थ है उसके अनुसार भी वही उपरोक्त अर्थ ही ध्वनित होता है। अत: योग का तात्पर्य मानव चेतना का दिव्य चेतना के साथ अर्थात् परमतत्व के साथ एकता है। वस्तुत: "निम्न प्रकृति से उच्च प्रकृति की ओर जाना ही योग का लक्ष्य है।"[3] श्री अरविन्द के अनुसार योग मार्ग का अवलम्बन करके सम्पूर्ण मानव जाति सच्चिदानन्द के साथ ऐक्य स्थापित कर सकती है। परन्तु दूसरी ओर जब पाश्चात्य आध्यात्मवादी परम्परा तथा ब्रैडले के दर्शन पर दृष्टिपात करते हैं तब हम पाते हैं कि यहाँ परमतत्व की साक्षात्कार की किसी भी विधि अर्थात् योग जैसे किसी भी साधन का निर्देश नहीं किया गया है। वस्तुत: उनके यहाँ 'जो उत्पत्ति मूलक अर्थ है उसके यहाँ फिलॉसफी ज्ञानानुराग है अर्थात् बुद्धि विलास है। सच तो यह है कि पाश्चात्य तत्वज्ञ की स्थिति ठीक उस नाविक की तरह है जो बिना गंतव्य स्थान को निर्धारित किये हुए ही अपनी नौका विचार सागर में

---

(1) श्री अरविन्द : योग समन्वय, (पूर्वार्द्ध), पृष्ठ सं० 10, श्री अरविन्द सोसायटी,पाण्डचेरी 1969।

(2) वही, पृष्ठ सं० 41 ।

(3) वही, पृष्ठ सं० 54 ।

छोड़ देता है। उसे यह नहीं पता कि उसकी नौका तीरघाट लगेगी या मीरघाट। दोनों ही स्थितियों में उसे प्रसन्नता है। परन्तु जब हम वेदों एवं उपनिषदों पर आधारित श्री अरविन्द की अवधारणा पर दृष्टिपात कर पाते हैं है कि परमसत्ता का साक्षात्कार एवं उसके साथ ऐक्य स्थापित करना ही मनुष्य का लक्ष्य है। इस प्रकार योग की विधि को लेकर श्री अरविन्द और ब्रैडले की परमसत् विषयक अवधारणा में भिन्नता हो जाती है। ब्रैडले के अनुसार सीमित प्राणियों के लिए परमसत् के अस्तित्व को पूर्णत: अनुभव करना असंभव है।[1] परन्तु श्री अरविन्द के अनुसार जब तक हम इस मानसिक धरातल पर हैं तभी तक परमसत् हमारे लिए अज्ञात है। विकास प्रक्रिया में जब मनुष्य मन से अतिमन के स्तर पर पहुँच जायेगा तब परमसत् उसके लिए अज्ञात नहीं रह जायेगा अर्थात् श्री अरविन्द के अनुसार परमसत् मात्र इन्द्रियानुभव एवं युक्ति के लिए ही अज्ञेय है परन्तु ज्ञान के उच्चतर स्रोतों के लिए वह अज्ञेय नहीं है। उनका वक्तव्य है कि अज्ञात अज्ञेय नहीं है। यदि हम अज्ञान में ही पड़े रहना न चाहें अथवा अपनी प्राथमिक सीमाओं में बंधे रहने का आग्रह न करें तो हमारे लिए उसका अज्ञात बने रहना आवश्यक नहीं है।[2] इस प्रकार श्री अरविन्द के अनुसार ज्ञान के उच्चतर स्रोत संभव हैं जबकि ब्रैडले अपनी तत्वमीमांसा में सत् की बौद्धिक मीमांसा करते हैं वे कहते हैं कि मैं यह मानकर चला हूँ कि तत्व विज्ञान का लक्ष्य ऐसी सामान्य दृष्टि को ढूँढ़ निकालना है जो बुद्धि को संतुष्ट करेगा और मैंने भी मान लिया है कि जो ऐसा करने में सफल हो वही सत् है और वही सत्य है, और जो असफल रहता है वह न सत् है और न सत्य।[3] अर्थात् तत्व विज्ञान का लक्ष्य विश्व को समझना तथा

---

(1) ब्रैडले : अपीयरेन्स एण्ड रीयलिटी, पृष्ठ सं० 140।
(2) श्री अरविन्द : दिव्य जीवन, प्रथम भाग, पृष्ठ सं० 44।
(3) ब्रैडले : अपीयरेन्स एण्ड रीयलिटी, पृष्ठ सं० 491।

सभी तथ्यों पर विचार करने के लिए एक निर्विरोध पद्धति को ढूँढ़ निकालना है। अपनी इसी मान्यता के आधार पर 'आभास और सत् ' में विचार करते हुए ब्रैडले बौद्धिक व्यवसाय में उलझे हुए प्रतीत होते हैं और इस प्रकार इनके दर्शन में तत्व की अनुभूति या साक्षात्कार का प्रश्न ही नहीं उठता जो कि इनकी तत्वमीमांसीय घोषणा के अनुकूल ही है। इतना ही नहीं अपितु वे यह भी कहते हैं कि सीमित प्राणियों के लिए परमसत् ही पूर्णतः अनुभूति असंभव है। परन्तु श्री अरविन्द तत्व की पूर्णतः अनुभूति को स्वीकार करते हैं। इस प्रकार इन दोनों ही दार्शनिकों में वैभिन्न स्पष्ट है।

श्री अरविन्द देशरहित, कालरहित परमसत् एवं देशकाल से युक्त जगत् के बीच में अतिमन को स्वीकार करते हैं। इसे वे परमसत् एवं जगत् के बीच मध्यवर्तीय तत्व के रूप में स्वीकार करते हैं परन्तु ब्रैडले के दर्शन में अतिमन जैसी कोई अवधारणा नहीं है। श्री अरविन्द कहते हैं कि वह अतिमन सच्चिदानन्द का सृजनात्मक पक्ष है। अतिमन के आधार पर ही वे एकत्व से अनेकत्व की अभिव्यक्ति को तथा अनेकत्व में भी एकत्व की नित्य विद्यमानता को व्याख्यायित करते हैं अतः इन अतिमन की अवधारणा को लेकर दोनों दार्शनिकों में मंहत्वपूर्ण भेद हो जाता है।

अरविन्द और ब्रैडले की परमसत् विषयक अवधारणा का जब हम मूल्यांकन करते हैं तो हमें यह विदित होता है कि ब्रैडले परमसत् को सर्वग्राही मानते हैं। यह अस्तित्व के समस्त पक्षों को अपनी सर्वग्राही एकता में समाविष्ट करता है। परमसत् के भीतर कोई भी आभास लुप्त नहीं होता है। उसकी सर्वग्राही एकता में प्रत्येक आभास का योगदान है। कोई भी तत्व कितना ही गौण क्यों न हो वह परमसत् में समाविष्ट है। वस्तुतः किसी भी पक्ष अथवा तत्व से रहित होने पर परमसत् निरर्थक कहा जा सकता है। परन्तु अब प्रश्न

यह है कि आभास परमसत् में कैसे रहते हैं? ब्रैडले के अनुसार आभास परमसत् में केवल योग के रूप में नहीं रहते अपितु वे परमसत् की सर्वग्राही एकता में परिवर्तित होकर समाविष्ट हैं। जैसा कि उनका कथन है "सत्ता वस्तु समष्टि नहीं है। यह एक ऐसी एकता है जिसमें सभी वस्तुएं एकीभूत होकर रूपान्तरित हो जाती हैं जिसमें वे समान रूप से बदल जाती हैं यद्यपि वे उन सबका परिवर्तन एक सा नहीं होता है।"[1] अत: ब्रैडले के अनुसार आभास को परमसत् की सर्वग्राही एकता में समाविष्ट होने के लिए रूपान्तरण की आवश्यकता पड़ती है। वे कहते हैं कि कुछ आभासों को परमसत् की सर्वग्राही एकता में समाविष्ट होने के लिए अधिक रूपान्तरण की अपेक्षा होती है जबकि कुछ आभासों को परमसत् में समाविष्ट होने के लिए कम रूपान्तरण की आवश्यकता होती है। ब्रैडले के अनुसार जिस आभास को जितना ही अधिक रूपान्तरण अपेक्षित होता है उसमें उतनी ही कम यथार्थता होती है। वे कहते हैं कि हम न केवल वस्तुओं की पुन: व्यवस्था कर रहे हैं अपितु उनके आन्तरिक तत्वों की भी। हम सर्व सामग्री के मिश्रण द्वारा किसी सर्वव्यापी सम्मिश्रण की योजना कर रहे हैं। जब वस्तुएं स्वयं वहाँ रूपान्तरित हो जाती हैं और अपने-अपने व्यक्तिगत स्वरूपों को खो देती हैं तो हमारे लिए यह कहना कठिन होगा कि चरम तत्व ससीम वस्तुओं से बनता है। परमसत् में जहाँ तक संबंधों का प्रश्न है ब्रैडले कहते है कि यह संबंध इस रूप में परमसत् के भीतर न हैं और न हो सकते हैं।[2] परन्तु ब्रैडले के परमसत् के सर्वग्राही स्वरूप की अवधारणा में कठिनाइयाँ बहुत स्पष्ट हैं। ब्रैडले की यह निश्चित धारणा है कि आभास परमसत् में विद्यमान है परन्तु उसी समय उनकी

---

(1) ब्रैडले : अपीयरेन्स एण्ड रीयलिटी, पृष्ठ सं० 424।

(2) वही, पृष्ठ सं० 460।

वे परमसत् में परिवर्तित होकर विद्यमान हैं। ब्रैडले कहते हैं कि परमसत् की आभासों के अतिरिक्त अन्य कोई सम्पत्ति नहीं है और साथ ही यदि उसमें केवल आभास ही है तो वह दीवालिया हो जायेगा। वस्तुत: उनके अनुसार रूपान्तरण को छोड़ देने पर ये सब के सब समान रूप से सारहीन हैं। परन्तु ब्रैडले के दर्शन में आभासों के रूपान्तरण की अवधारणा अत्यन्त अस्पष्ट है। प्रश्न यह है कि इस रूपान्तरण का कोई स्वरूप निंर्धारित करने का प्रयास ही नहीं किया है एवं न तो इसकी अवधारणा को किसी उदाहरण के द्वारा समझाने का प्रयास किया गया है। यह वक्तव्य है कि एक आभास इस ढंग से परिवर्तित हो जाता है कि उसकी अपूर्णताएं एवं त्रुटियाँ दूसरे आभासों द्वारा अच्छाई में बदल जाती हैं, हमें रूपान्तरण के निश्चित स्वरूप का कोई प्रत्यय नहीं देता है।[1] आभास की अपूर्णताएं एवं त्रुटियाँ कैसे बदल जाती हैं एवं आभास परमसत् में कैसे समन्वित है? ब्रैडले मानते हैं कि आभासों का रूपान्तरण हो जाता है परन्तु इनके ऐसा मानने से क्या वे सचमुच बदल जाती है? पुन: यदि आभास परमसत् के लिए अनिवार्य हैं जैसा कि ब्रैडले मानते हैं तो आभासों को रूपान्तरित ही क्यों होना चाहिए? ब्रैडले के अनुसार परमसत् असंबंधात्मक है परन्तु हम परमसत् को सभी भेदों एवं आभासों से पृथक समझ सकते हैं। अत: हमारे लिए यह विश्वास करना कठिन हो जाता है कि एक सुनिश्चित अर्थ में ऐसा परमसत् कैसे असंबंधात्मक हो सकता है? ब्रैडले के अनुसार आभास परमसत् से सम्बद्ध है अत: यह कहने मात्र से ही कि आभास परमसत् में रूपान्तिरत

---

(1) श्रीवास्तव, एस०एन० लाल : शंकर एण्ड ब्रैडल, प्रथम संस्करण, पृष्ठ सं० 491, सुन्दर लाल जैन, बनारसीदास, जवाहरनगर, दिल्ली, 1968 ।

हो जाते हैं, परमसत् असंबंधात्मक नहीं हो जाता है।

आभासों के रूपान्तर के संदर्भ में एक अन्य महत्वपूर्ण प्रश्न भी उत्थापित होता है कि आभास रूपान्तरण के पश्चात् परमसत् में अपने वैयक्तिक स्वरूप को बनाये रख सकते हैं अथवा नहीं। क्या उनकी वैयक्तिकता परमसत् में विलीन हो जाती है? वस्तुतः ब्रैडले के 'आभास और सत्' में ऐसे वक्तव्य है जो इन दोनों ही दृष्टियों का समर्थन करते हैं। उनका वक्तव्य है कि वह एक परिपूर्ण अनुभव होगा जिसमें सारे तत्व समन्वय की दशा में होंगे[1] एक अन्य स्तर पर वे कहते हैं कि "उस उच्चतर एकता में किसी का भी कोई अंश नष्ट नहीं होता है।[2] पुनः उनका वक्तव्य है कि परमतत्व में पहुँचकर भी प्रत्येक वस्तु वही रहती है जो वह स्वयं होती है। उनका व्यक्तिगत स्वरूप बना रहता है परन्तु अनुपूरण (Complemnet) और अनुयोग (Addition) के कारण प्रभावहीन हो जाता है।[3] इन वक्तव्यों से यह स्पष्ट है कि रूपान्तरण के बाद भी आभास परमसत् में अपनी वैयक्तिकता बनाये रखते हैं परन्तु दूसरी ओर ब्रैडले यह भी मानते हैं कि परमसत् में आभासों की वैयक्तिकता विलीन हो जाती है। उनका वक्तव्य है कि "हम न केवल वस्तुओं की पुनर्व्यवस्था कर रहे हैं अपितु उनके आन्तरिक तत्वों की भी। हम सर्व सामग्री के पुनर्मिश्रण द्वारा किसी सर्वव्यापी सम्मिश्रण की योजना कर रहे हैं। जब वस्तुएं , स्वयं वहाँ रूपान्तरित हो जाती हैं और अपने-अपने वैयक्तिगत स्वरूपों को खो देती हैं तो हमारे लिए यह कहना कठिन होगा कि चरमतत्व ससीम वस्तुओं से बनता है।"[4] इस वक्तव्य

(1) ब्रैडले : अपीयरेन्स एण्ड रीयलिटी, पृष्ठ सं० 152।
(2) वही, पृष्ठ सं० 161।
(3) ब्रैडले : आभास और सत् , पृष्ठ सं० 445।
(4) वही, पृष्ठ सं० 461।

से यह स्पष्ट है कि आभासों का व्यक्तिगत स्वरूप समाप्त हो जाता है। इस प्रकार ब्रैडले की रूपान्तरण की अवधारणा अस्पष्ट है। यहाँ एक समस्या यह उत्पन्न होती है यदि आभास रूपान्तरण के बाद भी परमसत् में अपनी वैयक्तिकता बनाये रखते हैं तब उनके रूपान्तरण का क्या तात्पर्य है? वस्तुत: रूपान्तरण की आवश्यकता इसीलिए है कि आभासों में उनकी ससीमता के कारण जो विरोध है वह दूर हो जाये। परमसत् में कोई विरोध नहीं होता है। परन्तु जब तक परमसत् में वैयक्तिकता एवं ससीमता बने रहेंगे तब तक विरोध कैसे समाप्त हो सकते हैं? वस्तुत: परमसत् में आभासों के वैयक्तिक स्वरूप के बने रहने का तात्पर्य रूपान्तरण के उद्देश्य को ही व्यर्थ कर देता है। इस संदर्भ में यह पूछा जा सकता है कि आभास रूपान्तरण के पश्चात् अपने वैयक्तिक स्वरूप को कैसे बनाये रख सकते हैं? रूपान्तरण का तात्पर्य किसी भी प्रकार से साधारण परिवर्तन से नहीं है अपितु इसका तात्पर्य आमूल रूपान्तरण से है। परन्तु यह अत्यन्त विचित्र है कि आमूल रूपान्तरण के बाद भी प्रत्येक आभास परमसत् में अपनी वैयक्तिकता को बनाये रखता है। वस्तुत: रूपान्तरण इतना मूलभूत (Radical) होना चाहिए कि आभास का स्वरूप ही सर्वथा बदल जाये अन्यथा रूपान्तरण ही व्यर्थ है। यदि आभास इस सीमा तक बदल जाते है तो परमसत् में इनकी वैयक्तिकता की विद्यमानता के प्रतिपादन का कोई तात्पर्य नहीं हैं। इस प्रकार बैडले की परमसत् विषयक अवधारणा में विभिन्न पक्षो से विचार करने पर तार्किक संगति का अभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। ब्रैडले की परमसत् अवधारणा में स्पष्ट आत्मव्याघात है। इनकी व्याख्या के अनुसार आभास परमसत् में अपनी वैयक्तिकता को बनाये भी रखते हैं एवं इस सीमा तक रूपाान्तरित हो जाते हैं कि इनकी त्रुटियाँ एवं अपूर्णताएं भी दूर हो जाती है परन्तु ये दोनों ही स्थितियाँ कैसे

संभव हैं?

ब्रैडले ने यह अनुभव किया कि बिना ससीमता की समाप्ति के अपूर्णता की समाप्ति संभव नहीं है तब उन्होंने आभासों की ससीमता का परमसत् के लिए निषेध कर दिया। परन्तु उन्होंने यह ध्यान नहीं दिया कि ससीमता की समाप्ति के बाद वस्तुएं परमसत् में अपनी वैयक्तिकता को कैसे बनाये रख सकती है? जब एक आभास की ससीमता समाप्त हो जाती है तो इसे अवश्य ही सर्वथा समाप्त हो जाना चाहिए। यह सर्वथा अचिन्त्य है कि आभासों की ससीमता समाप्त हो जाने के बाद भी आभास परमसत् में अपनी वैयक्तिकता बनाये रखते हैं। यदि हम ऐसा स्वीकार करें कि आभास ससीमता की समाप्ति के बाद परमसत् में किस तरह विद्यमान है तब हमें अनन्तों के नानात्व को स्वीकार करना होगा जो एक स्पष्ट आत्मव्याघात है क्योंकि तब कई अनन्त एक दूसरे को सीमित करेंगे एवं इस प्रकार वे अनन्त नहीं रह जायेगे। अतएव आभासों की ससीमता के दूर हो जाने पर आभासों का परमसत् में अपनी वैयक्तिकता को बनाये रखना संभव नहीं है।

वस्तुत: ब्रैडले की परमसत् विषयक अवधारणा में एक एवं अनेक के बीच संबंध तथा आभासों का परमसत् के साथ संबंध को लेकर जो समस्याएं उत्पन्न होती हैं वे हमारी सीमित बुद्धि के कारण ही हैं। ब्रैडले इस तथ्य को स्वीकार भी करते हैं कि हम सत् को बुद्धि के द्वारा पूर्णत: नहीं जान सकते हैं तथापि वे सत् का बुद्धि के आधार पर विवेचन करते हैं एवं वे परमसत् के लिए श्री अरविन्द की तरह अतिमानसिक तर्क जैसे किसी उच्चतर तर्क का विधान नहीं करते हैं। अत: ब्रैडले की परमसत् विषयक अवधारणा में जो समस्याएँ उत्पन्न होती हैं वे हमारी तार्किक बुद्धि के कारण ही हैं।

श्री अरविन्द के अनुसार परमसत् अतिमानसिक है। अत: जो अतिमानसिक है उसे तर्क के आधार पर नहीं समझा जा सकता है। इस प्रकार श्री अरविन्द सत् के विवेचन के लिए विचार की अपर्याप्तता को स्वीकार करते हैं। चूंकि सत् अनन्त है अत: वे अनन्त परमसत् के लिए अनन्त के तर्क का विधान करते हैं तथापि वे कहते हैं जब तक हम मन के अधिकार क्षेत्र में केन्द्रित हैं तब तक हमारे ज्ञान का परम साधन युक्ति ही है एवं तब तक हमें युक्ति के स्थान पर ज्ञान के अन्य साधन जैसे अविकसित एवं अस्पष्ट तर्क को किसी भी प्रकार प्रश्रय नहीं देना चाहिए। इस अनन्त तर्क के अनुसार एक एवं अनेक में विरोध नहीं है। ब्रैडले के दर्शन में हम एक एवं अनेक की समस्या में उलझ जाते हैं। परन्तु श्री अरविन्द के अनुसार निरपेक्ष का एकत्व अनन्त एकत्व है, वह ऐसा सारतत्वात्मक और अनन्त एकत्व है जो सैकड़ों , सहस्त्रों, लाखों, करोड़ों और अरबों को धारण कर सकता है। ज्योतिषीय अथवा ज्योतिषी से अधिक संख्याओं का चाहे जितना भी ढेर क्यों न लगाओ और उन्हें गुणित करो, वे उस एकत्व का अतिक्रमण नहीं कर सकती।..... उसके विषय में यह कहा जा सकता है कि वह अनन्त एकत्व नहीं होगा यदि वह अनन्त बहुत्व में समर्थ नहीं हो।[1]

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि श्री अरविन्द अनन्त के तर्क के आधार पर परमसत् की एक अद्भुत अवधारणा प्रस्तुत करते हैं जो अस्तित्व के किसी भी पक्ष का निषेध नहीं करता है। यद्यपि ब्रैडले का परमसत् भी सर्वग्राही है तथापि इसमें तार्किक संगति का

---

(1) श्री अरविन्द : दिव्य जीवन, पृष्ठ सं० 54 ।

अभाव है। इस संदर्भ में श्री अरविन्द का वैशिष्ट्य अवश्य ही अनन्त के तर्क के कारण है। श्री अरविन्द परमसत् के लिए अनन्त के तर्क का प्रतिपादन भी बड़ी कुशलता के साथ करते हैं। वे कहते हैं कि भौतिक जगत के अपने नियम हैं। ठीक इसी तरह प्राण तथा मन के भी अपने नियम हैं। प्राण के नियम मन के व्यापार तथा क्रियाविधि की व्याख्या नहीं कर सकते हैं। इसी तरह मन के नियम भी जो मन के ऊपर हैं अर्थात् जो अतिमानसिक हैं उसकी व्याख्या नहीं कर सकते। वस्तुत: यथार्थता तो यह है कि मन का नियम जो मन के नीचे है उसको व्याख्यायित करने में कठिनाई का अनुभव करता है फिर उसका तो कहना ही नहीं है जो इसके ऊपर है। इस प्रकार श्री अरविन्द यह प्रतिपादित करते है कि भौतिक जगत, प्राणिक जगत् तथा मानसिक जगत् के अपने-अपने नियम हैं उसी तरह परमसत् का भी नियम है और इसे श्री अरविन्द अनन्त तर्क कहते है। उनके अनुसार यह मानना युक्ति विरुद्ध है कि सान्त चेतना और युक्ति अनन्त के मापक हो सकते हैं। ये लघु-लघु वस्तुएं उस अति विशाल पदार्थ का निर्णय नहीं कर सकती है अर्थात् तार्किक बुद्धि के द्वारा सत् को नहीं समझा जा सकता है। चूंकि सत् अनन्त है इसलिए उसकी सत्ता और कर्म की विधि भी अनन्त की ही विधि होनी चाहिए। इस प्रकार श्री अरविन्द परमसत् के लिए अनन्त के तर्क के लिए जिस प्रकार स्थापना करते है उसमें हमें अवश्य ही वैधता प्रतीत होती है। तथापि इन्होंने अनन्त के तर्क को पूर्णत: विकसित नहीं किया है। वे केवल परमसत् के लिए अनन्त के तत्व को प्रस्तावित भर करते हैं परन्तु इस अतिमानसिक तर्क के स्वरूप एवं क्रियाविधि के संदर्भ में कोई दृष्टिकोण नहीं करते हैं। इस अनन्त के तर्क को तार्किक बुद्धि के द्वारा नहीं समझा जा सकता है। परन्तु अतिमानसिक चेतना को प्राप्त

जहाँ तक श्री अरविन्द के विकासवाद का प्रश्न है हम कह सकते हैं इसका कोई तार्किक आधार नहीं है। यह तर्कत: सिद्ध नहीं किया जा सकता है। सच तो यह है कि अतिमानसिक चेतना के अवतरण की जिस अपरिहार्यता को श्री अरविन्द प्रतिपादित करते हैं वस्तुत: यह उनका दृढ़ विश्वास है। तथापि जब श्री अरविन्द यह कहते हैं कि मानसिक धरातल पर हमें परमसत् का समग्र ज्ञान संभव नहीं है तब उनके इस वक्तव्य में अवश्य ही वैधता प्रतीत होती है। वस्तुत: मन के स्तर पर तत्व की जो अपरोक्षानुभूति है वह भी आंशिक ही है अर्थात् मानसिक स्तर पर तत्व का साक्षात् अनुभव भी सर्वांगीण नहीं हो सकता है। हम देखते हैं कि शंकर की अनुभूति परमसत् को निर्गुण ब्रह्म के रूप में स्वीकार करती है जबकि रामानुज की अनुभूति ब्रह्म को परमसत् के रूप में मानती है। इस प्रकार अनुभूति भी सगुण ब्रह्म तथा निर्गुण ब्रह्म में विरोध मानती है। इस प्रकार अपरोक्षानुभूति के द्वारा भी परमसत् का समग्र ज्ञान नहीं प्राप्त किया जा सकता एवं यह साक्षात् ज्ञान भी आंशिक है। वस्तुत: श्री अरविन्द साक्षात् ज्ञान को अस्वीकार नहीं करते अपितु वे इस मानसिक स्तर पर उसकी पूर्णता को अस्वीकार करते है। श्री अरविन्द की अवधारणा है कि अतिमानसिक चेतना के अवतरण होने पर भी हम सत् के समग्र स्वरूप को जान सकते है। अर्थात् सत् एवं संभूति का सम्पूर्ण ज्ञान अतिमानसिक स्तर पर ही संभव है। इस प्रकार सत् का सर्वांगीण अतिमानसिक स्तर पर दार्शनिक प्रासाद को निर्मित करते हैं। वस्तुत: यदि इन मान्यताओं को स्वीकार कर लिया जाता है तब मनुष्य एवं जगत् का दिव्यीकरण एक अनिवार्य तार्किक परिणाम होगा।

उपरोक्त विवेचन के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि श्री अरविन्द एवं ब्रैडले के दर्शन में क्रमश: पूरब एवं पश्चिम की आध्यात्मवादी चिन्तन की अत्यन्त उत्कृष्ट एवं

प्रौढ़ अभिव्यक्ति हुई है। उनके चिन्तन में आध्यात्मवाद अपनी-अपनी पूर्ववर्ती चिन्तनधाराओं से विपुल संस्कार तथा प्रभाव ग्रहण करते हुए एक नवीन तथा उदात्त रूप में विकसित हुआ है। जहाँ तक ब्रैडले का संबंध है उन्हें एक उत्कृष्ट, उदात्त एवं गम्भीर दर्शन के प्रणेता के रूप में विश्व के महान दार्शनिकों की श्रेणी में सदा रखा जायेगा।

श्री अरविन्द ने वेदान्त की प्राचीन विचारधारा को एक नया मोड़ प्रदान किया है। उनके दर्शन में वेदान्त की अमर विचारधारा की अत्यन्त सशक्त, उज्ज्वल तथा मौलिक रूप में अभिव्यक्ति हुई है।

....

सप्तम अध्याय

सप्तम अध्याय

पूर्वी और पाश्चात्य दर्शन में रहस्यवाद की समता-विभिन्नता

पूर्वी और पाश्चात्य दर्शन के संदर्भ में रहस्यवाद के गहन अध्ययन और विवेचन से स्पष्ट होता है कि दोनों ही दर्शनों के दृष्टिकोण में विभिन्नता अधिक और साम्यता कम है। ऐसा, इसलिए क्योंकि भारतीय दर्शन की पृष्ठभूमि आध्यात्मिक है और पाश्चात्य दर्शन की पृष्ठभूमि में भौतिकवादी प्रवृत्ति अधिक विद्यमान है। यह सच ही कहा जाता है कि जिस भूमि पर व्यक्ति का जन्म होता है उस भूमि की मिट्टी का प्रभाव व्यक्ति के व्यक्तित्व और विचार पर अवश्य ही पड़ता है। भारत की भूमि में जन्म लेने वाले दार्शनिकों के विचारों में आध्यात्मिक प्रवृत्ति की झलक परिलक्षित होती है और पश्चिम की भूमि में जन्म लेने वाले दार्शनिकों के विचारों में वैज्ञानिक दृष्टिकोण की प्रधानता परिलक्षित होती है। इसी आधार पर पूर्वी और पाश्चात्य दोनों ही दर्शनों में रहस्यवाद की जो अवधारणा प्रस्तुत की गई है उसकी स्पष्ट छाप हमारे सम्मुख उपस्थित होती है। सर्वप्रथम, रहस्यवाद को लेकर दोनों दर्शनों में जो साम्यता है उसका उल्लेख प्रस्तुत किया जायेगा तदोपरान्त विभिन्नता पर प्रकाश डाला जायेगा।

यह तो सर्वविदित तथ्य है कि मानव एक जिज्ञासु प्राणी है। यह जिज्ञासा का तत्व पूर्वी और पश्चिमी दोनों ही देशों के चिन्तकों, विचारकों और दार्शनिकों में विद्यमान रहता है। यह विश्व क्या है? इसकी उत्पत्ति कैसे हुई? क्या इस विश्व का कोई कर्ता है, यदि है तो वह कर्ता कौन है? क्या उसका अस्तित्व है, यदि है तो क्या उसके अस्तित्व को

प्रमाणित किया जा सकता है या नहीं? यदि किया जा सकता है तो किस प्रकार? क्या मानव में इतनी क्षमता है कि वह इस विश्व के सृष्टिकर्ता के अस्तित्व प्रमाणित करे? आत्मा क्या है? क्या मनुष्य की मृत्यु के उपरान्त आत्मा का अस्तित्व रहता है? क्या आत्मा अमर है, यदि है तो आत्मा की अमरता से संबंधित प्रमाण कौन-कौन से हैं? क्या पुनर्जन्म का होना सत्य है? कर्म का सिद्धान्त क्या है? क्या मनुष्य को अपने द्वारा किये गये कर्मों का भोग भोगना पड़ता है, जगत् में अशुभ क्यों विद्यमान है? मनुष्य को क्या अपने दु:खों से छुटकारा मिल सकता है? मोक्ष क्या है? क्या मोक्ष की प्राप्ति संभव है? आदि अनेक रहस्यमय प्रश्न मानव के मनोमस्तिष्क में उठते रहते हैं जिनकी व्याख्या अपने-अपने दृष्टिकोण से पूर्वी और पश्चिमी देशों के रहस्यवादी दार्शनिको ने की है। इस बात को लेकर दोनों ही दर्शनों में समता दृष्टिगोचर होती है कि दोनों ही देशों के विचारकों ने विश्व, ईश्वर, मनुष्य, पुनर्जन्म, मुक्ति, कर्म आदि से संबंधित रहस्यात्मक विषयों पर अपने-अपने विचारों को व्यक्त किया है।

पूर्वी और पाश्चात्य रहस्यवाद में एक साम्य यह भी है कि दोनों ही देशों के अधिकांश रहस्यवादी विचारक प्राय: एक ही दृष्टिकोण से सोचते हैं। ग्रीक तथा रोम, जर्मनी तथा फ्रांस एवं भारत में एक प्रकार के प्रत्ययों की ही अभिव्यक्ति हुई है। उदाहरण के लिए प्लाटिनस का कथन है कि जिसमें आन्तरिक भेद न हो और जो किसी बाहरी वस्तु से भी भिन्न हो तो वही आदर्श संत है। ज्ञानेश्वर का मत है कि आदर्श संत का मन उसकी आत्मा से अभेद प्राप्त करता है और ईश्वर में अपने अस्तित्व का लय करके आनन्द लोक को प्राप्त करता है और ईश्वर में अपनी सारी वाह्य वस्तुओं को त्याग देता है। इसी प्रकार रहस्यात्मक अनुभूतियों, अतीन्द्रिय अनुभवों, धार्मिक जागरूकता और रहस्यवाद के

बौद्धिक नैतिक तथा प्रातिभ ज्ञान पर पूर्वी तथा पश्चिमी दर्शनों में पर्याप्त समानता है।[1]

पूर्वी दर्शन में रहस्यानुभूति की प्राप्ति के लिए सिद्ध गुरु की आवश्यकता पर बल प्रदान किया गया है। यह कहा गया है कि एक सिद्ध गुरु के निर्देशन में ही साधक को रहस्यानुभूति के मार्ग पर पहुँचने में सफलता प्राप्त हो सकती है। पाश्चात्य दार्शनिक परिपेक्ष्य में इस तथ्य को प्लेटो ने भी स्वीकार किया है। इस प्रकार स्पष्ट होता है पूर्वी और पश्चिमी देशों के दर्शन में समता है।

पूर्वी और पश्चिमी रहस्यवादियों में यह साम्य भी परिलक्षित होता है कि रहस्यवाद की एक निश्चित परिभाषा दोनों ही दर्शनों में उपलब्ध नहीं होती। दोनों ही दर्शनों के विभिन्न रहस्यवादियों ने अपने-अपने दृष्टिकोणों के आधार पर रहस्यवाद को परिभाषित करने का प्रयत्न किया है। रहस्यवाद की कुछ परिभाषायें तो दोनों दर्शनों में इस प्रकार दी गई हैं कि उनमें भेद करना मुश्किल हो जाता है। उदाहरण के लिए डा० राधाकृष्णन रहस्यवाद को एक ऐसा अनुशासन मानते हैं जिसके द्वारा आध्यात्मिक तत्व की प्राप्ति होती है अर्थात् ईश्वर से साक्षात्कार होता है। इसी प्रकार ब्राइटमैन रहस्यवाद का अर्थ दैवी सत्ता से साक्षात्कार होना मानते हैं। इन दोनों ही परिभाषाओं में साम्यता दृष्टिगोचर होती है क्योंकि परमतत्व से साक्षात्कार की बात दोनों ही परिभाषाओं में कही गई है। इसी प्रकार प्लेडरर तथा रसल ने 'अनुभूति' के रूप में रहस्यवाद को परिभाषित किया है।

(1) त्रिपाठी, जटाशंकर : भारतीय समकालीन दर्शन में प्रो० रानडे के योगदान का समीक्षात्मक अध्ययन, पृष्ठ सं० 135, श्री गुरुदेव मंदिर, हिंदवाणी, बेलगाँव, 1986 ।

प्लेडरर के अनुसार रहस्यवाद ईश्वर के साथ अपनी एकता की स्पष्ट अनुभूति है। रसल के अनुसार तत्वत: रहस्यवाद अनुभूति की उस गम्भीरता तथा तीव्रता के अतिरिक्त कुछ नहीं है जो अपनी विश्व संबंधी भावना के प्रति अनुभव की जाती है। इसी प्रकार का रहस्यवाद के संबंध में दृष्टिकोण रानडे, परमहंस तथा स्वामी विवेकानन्द के विचारों में हमें परिलक्षित होता है। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि रहस्यवाद की एक सामान्य अवधारणा का अभाव दोनों ही दर्शनों में प्राप्त होता है।

पूर्वी और पाश्चात्य रहस्यवाद के संदर्भ में एक साम्यता यह भी दृष्टिगोचर होती है कि उपनिषदों का प्रभाव दोनों ही दर्शनों में परिलक्षित होता है। यह बात अलग है कि भारतीय रहस्यवाद उपनिषदों से ही पूर्णत: नि:सृत है और पाश्चात्य रहस्यवाद आंशिक रूप से उपनिषदीय रहस्यवाद से प्रभावित है, पर प्रभाव तो है ही। उदाहरण के लिए स्पिनोजा का रहस्यवाद, प्लाटिनस का रहस्यवाद उपनिषदीय रहस्यवाद से प्रभावित है। स्पिनोजा के अनुसार परमतत्व ईश्वर है। सब कुछ ईश्वर और ईश्वर ही सब कुछ है। यह मत सर्वेश्वरवाद कहलाता है। ईश्वर की अनुभूति में मानव कल्याण निहित है। सब कुछ ईश्वरमय तथा ईश्वर में ही सब कुछ देखना ईश्वर प्रेम है। स्पिनोजा का यह ईश्वर प्रेम वास्तव में रहस्यवादी प्रेम है। इसी प्रकार प्लाटिनस स्वयं रहस्यवादी थे। उनके अनुसार तत्वज्ञान की प्राप्ति समाधि दशा से आन्तरिक प्रेरणा द्वारा प्राप्त होती है। प्लाटिनस मूल तत्व ईश्वर को ही मानते हैं। संसार इसी से परिचालित होता है। ईश्वर अपरोक्षानुभूति का रहस्य है। प्लाटिनस का यह मत अद्वैत वेदान्त से मिलता है। अद्वैत वेदान्त का केन्द्रगत प्रत्यय आत्मा या ब्रह्म है। आत्मा या ब्रह्म को प्रमाणों का विषय नहीं माना जाता और न ही ज्ञान का विषय। आत्मा की स्वयंसिद्धता अद्वैत वेदान्त की भारतीय दर्शन को

महत्वपूर्ण दर्शन है। आत्मा कभी विषय या दृश्य नहीं बनता। आत्मा का ज्ञान अपरोक्षानुभूति द्वारा होता है जो अवर्णनीय है। इसी तरह रानडे का दर्शन आत्मानुभूति का दर्शन है जिसमें उन्होंने अपरोक्षानुभूति द्वारा आत्मा का ज्ञान संभव मानकर ईश्वर साक्षात्कार के लिए उपयुक्त मार्ग का निर्देशन किया। इसके लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है।

कुछ पाश्चात्य दार्शनिक जैसे काण्ट, ब्रैडले आदि पूर्वी दार्शनिकों की भाँति यह मानते हैं कि बुद्धि द्वारा अतीन्द्रिय सत्ता का ज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि मानवीय बुद्धि सीमित है। उसकी पहुँच अतीन्द्रिय सत्ता तक नहीं बुद्धि द्वारा व्यवहार का ही ज्ञान हो सकता है परमार्थ का नहीं। वाणी ओर बुद्धि के पार होने पर भी परमतत्व या विशुद्ध ज्ञाता की सत्ता शून्यवत् नहीं है क्योंकि इसकी सत्ता स्वत:सिद्ध है। प्रत्येक ज्ञान या अनुभव में इसकी ज्योति प्रकाशित होती है और इसके बिना किसी प्रकार का ज्ञान या अनुभव संभव नहीं है। विज्ञाता का बुद्धि द्वारा विज्ञान न होने पर भी, दृष्टा का इन्द्रिय प्रत्यक्ष द्वारा दर्शन न होने पर भी यह विशुद्ध ज्ञाता शून्यवत् नहीं है क्योंकि इसकी सत्ता स्वत: सिद्ध है इस स्वत: सिद्ध विज्ञाता के विज्ञान के, इस दृष्टा के दर्शन के लोप कदापि नहीं हो सकता। काण्ट का यह विचार वेदान्त के आत्मतत्व के विचारों से बहुत मिलता है। 'विज्ञातारमरे! केनविजानीयात् ' और 'न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते'। य एव हि निराकर्ता तदैव तस्य स्वरूपम्[1]।

यहाँ एक समस्या यह उत्पन्न होती है कि यदि बुद्धि विकल्पों की पहँच परमार्थ तक

(1) शर्मा, सी०डी० : पाश्चात्य दर्शन, पृ० सं०- 195।

नहीं है तो हम यह कैसे कह सकते हैं कि परमार्थ वस्तुत: है और अज्ञेय है? इस प्रकार के कथन से हम परमार्थ को कम से कम 'सत्ता' और 'ज्ञान' के विकल्पों में तो जकड़ रहे है। परमार्थ के विषय में हमारा कम से कम इतना तो निश्चित ज्ञान है कि परमार्थ की सत्ता है और वह अज्ञेय है। फिर वह अज्ञेय कैसे हुआ? क्या यह कहना वदतोव्याघात नहीं है? इस संबंध में काण्ट अद्वैत मत की भाँति ही इस प्रश्न का उत्तर देते हैं कि हम किसी भी वस्तु के विषय में दो प्रकार से विचार कर सकते हैं-एक तो विधि रूप से और दूसरे निषेध रूप से। हमारा सत्य ज्ञान सविकल्प प्रत्यक्ष पर आधारित है। प्रत्यक्ष सदा विधायक होता है निषेधक नहीं। अत: सत्य ज्ञान भी सदा विधि रूप ही होता है निषेध रूप नहीं। यह सत्य है कि निषेध सदा विधान की अपेक्षा रखता है और उसी पर निर्भर करता है किन्तु निषेध स्वयं ज्ञान रूप या सर्वथा अज्ञान रूप नहीं होता। निषेध वस्तुत: ज्ञान की सीमा है। निषेध सर्वथा अज्ञान रूप नहीं होता। इससे यह सिद्ध होता है कि जिस वस्तु के ज्ञान का निषेध किया जाता है वह सर्वथा अज्ञेय नहीं है। यदि वह सर्वथा अज्ञेय हो तो उसका निषेध भी नहीं हो सकता। निषेध का अर्थ इतना ही है कि हमारे ज्ञान की सीमा उस वस्तु तक जाकर समाप्त हो जाती है। ज्ञान को स्वयं अपनी सीमा का ज्ञान होता है। जिस प्रकार निषेध सर्वथा अज्ञान रूप नहीं है उसी प्रकार निषेध वस्तुत: ज्ञान रूप भी नहीं है। है तो वह अज्ञान ही क्योकि ज्ञान सदा विधि रूप होता है। यदि कोई कहे– "मैं अमुख वस्तु को निषेध रूप से जानता हूँ", तो इस वाक्य का अर्थ केवल यही है– "मैं अमुख वस्तु को नहीं जानता।[1]" निषेध रूप ज्ञान और अज्ञान दोनों एक ही हैं क्योंकि दोनों में विधान

(1) शर्मा, सी०डी० : पाश्चात्य दर्शन, पृ० सं०- 196।

का अभाव है फिर भी निषेध रूप ज्ञान सर्वथा अज्ञान नहीं है क्योंकि वह ज्ञान की सीमा का ज्ञान है। इस प्रकार विधि और निषेध का प्रतिपादन करके काण्ट यह बताते हैं कि परमार्थ को भी हम इन दो रूपों में देख सकते हैं। परमार्थ का विधि रूप ज्ञान असंभव है क्योंकि विधि रूप ज्ञान सदा इन्द्रिय सम्वेदन और बुद्धि विकल्प इन दोनों पर निर्भर है और इन दोनों की गति परमार्थ तक नहीं है किन्तु परमार्थ का निषेध रूप ज्ञान संभव ही नहीं, अपरिहार्य भी है क्योंकि यह निषेध रूप ज्ञान हमारे ज्ञान की सीमा का ज्ञान है। इसका तात्पर्य यह है कि हमारे ज्ञान की गति परमार्थ तक नहीं। यह 'नेति-नेति' वस्तुतः व्यवहार और परमार्थ की सीमा है। यह 'नेति-नेति' न तो परमार्थ का निषेध करती है और न ही व्यवहार का अतिक्रमण। अनिर्वचनीय परमार्थ का सवोच्च निर्वचन 'नेति-नेति' हैं। इससे परमार्थ के विषय में किये जाने वाले निर्वचनों का निषेध होता है। स्वयं परमार्थ का नहीं। अतः परमार्थ को अनिर्वचनीय और बुद्धि द्वारा अगम्य कहने में किसी प्रकार का विरोध या वदतोव्याधात नहीं हो सकता। इस प्रकार काण्ट, स्पिनोजा, ब्रैडले, हेगल भारतीय रहस्यवादियों जैसे शंकराचार्य, रानडे, परमहंस, विवेकानन्द की भाँति ही परमसत्ता को अनिर्वचनीय मानते हैं, जिसका वर्णन शब्दों द्वारा नहीं किया जा सकता, जिसे किसी प्रमाणों द्वारा सिद्ध किया जा सकता। इसका सर्वोच्च निर्वचन 'नेति-नेति' है। चूंकि परमतत्व का विषय विलक्षण तथा रहस्यात्मक होता है इसलिए भाषा की सीमा में इसे बाँधना असंभव हो जाता है। रहस्यवाद इसके स्वरूप को शब्दों के माध्यम से प्रकट नहीं कर पाता। जेम्स ने रहस्यवाद को अकथनीय कहा है जिस प्रकार मीठे के स्वाद का वर्णन करने में मानव असमर्थता प्रकट करता है उसी प्रकार रहस्यात्मक विषयों को भाषा में व्यक्त करना मानव की शक्ति के बाहर है। इसका केवल संकेत दिया जा सकता है।

अकथनीय कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि यह मानवीय स्पष्टीकरण प्रक्रिया को दोषयुक्त बना देता है। प्रो० एटकीन्सन ली ने कहा है "ऐसा सोचना कि स्पष्टीकरण में दोष के कारण ऐसा होता है अत्यन्त ही स्वाभाविक है, परन्तु रहस्यवादियों का प्रमाण यह बतलाता है कि रहस्यात्मक अनुभूति के विषय अद्भुत होने से वर्णन के बाहर है।[1]"

सृष्टि के मूलतत्व के विषय में पूर्वी और पाश्चत्य के दार्शनिकों में कुछ समानता दृष्टिगोचर होती है। जिस प्रकार ग्रीक दार्शनिकों ने क्रमश: जल, वायु, अग्नि एवं आकाश आदि को सृष्टि का मूलतत्व बताया ठीक उसी प्रकार का उल्लेख भारतीय उपनिषदीय दर्शन में सृष्टिशास्त्र के उल्लेख के संदर्भ में प्राप्त होता है। वृहदारण्यक उपनिषद जल को सृष्टि के मूलतत्व के रूप में वर्णित करता है। इसमें जल की ही सत्ता सृष्टि के आदि में मानी गई है। जल जगत् की आधी सत्ता है और उसी से सम्पूर्ण वस्तुओं की उत्पत्ति हुई है। यह कल्पना बहुत कुछ ग्रीक दार्शनिक थेलीज के अनुरूप है क्योकि उसने भी जल को समस्त वस्तु जगत का मूल कारण माना है। जल के पश्चात् वायु को मूलतत्वं के रूप में उपनिषद में सर्वप्रथम रैक्व ने ग्रहण किया। उसके अनुसार समस्त वस्तु जगत् का लय वायुमय होता है। अत: वायु ही समस्त जगत् का मूल भी है। रैक्व का दर्शन ग्रीक दार्शनिक अनैक्जीमेण्डर के समान है। उसने भी वायु को समस्त वस्तुओं का आदि और अन्त माना है। इसके पश्चात् कठोपनिषद में अग्नि को जगत के मूलतत्व के रूप में प्रयुक्त किया गया है। यह सिद्धान्त हेराक्लाइटस के समान है। उपनिषदों में आकाश से

(1) एटकिंसन ली : ग्राउण्ड वर्क ऑफ फिलासफी ऑफ रिलीजन, पृ० सं०-162, डकवर्ष, लंदन, 1946।

भी सृष्टि की उत्पत्ति बतायी गयी है। अग्नि, वायु, जल और पृथ्वी थोड़े बहुत स्पर्शजन्य हैं किन्तु आकाश के मूलतत्व होने की कल्पना तक पहुँचने के लिए अधिक विकसित दार्शनिक विचार की आवश्यकता है। रानडे का कथन है कि "थेलीज, अनैक्जीमेण्डर, हेराक्लाइटस और एम्बीडोक्लीज में क्रमशः जल, वायु, पृथ्वी और अग्नि के मूलतत्व होने की कल्पना पृथक-पृथक अथवा संश्लिष्ट रूप में पायी जाती है।[1]" अरिस्टोटिल के मतानुसार हम आकाश के चरमतत्व होने की कल्पना फिलालॉजसमय तक पहुँचने तक ही पाते हैं। उन्होंने बताया कि छान्दोग्य उपनिषद में आकाश को मूलतत्व के रूप में स्वीकार किया गया है। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि सृष्टि के मूलतत्व के विषय में उपनिषदों और ग्रीक दर्शन में पर्याप्त साम्य है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि यह साम्यता सृष्टि के अपौरुषेय पक्ष के वर्णन से संबंधित है।

पूर्वी और पाश्चात्य रहस्यवादी दार्शनिकों में स्पिनोजा व गीता के रहस्यवाद के सम्यक अध्ययन करने के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इन दोनों के विचारों में कुछ साम्यता दृष्टिगोचर होती है। स्पिनोजा का द्रव्य विचार तथा सर्वेश्वरवाद गीता में प्रतिपादित परमतत्व की अवधारणा तथा ईश्वर के विश्व स्वरूप से बहुत साम्य रखता है। इसके अतिरिक्त गीता की तरह ही स्पिनोजा का रहस्यवाद उपनिषद के बहुत निकट है। उपनिषद में भी बताया गया है कि सारी सृष्टि ब्रह्ममय है। (सर्व खलु इदं ब्रह्मं)। पुनः यह दृश्य जगत् आत्म स्वरूप ही है। (इदं सर्व यत् अयमात्मा) । इसी तरह गीता में भी भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है कि जो पुरुष सम्पूर्ण भूतों में सबके आत्मरूप मुझ

(1) ले० रानडे, अनु० रामानन्द तिवारी : उपनिषदों का रचनात्मक सर्वेक्षण, पृ० सं०-56।

वासुदेव को ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतों को मुझ वासुदेव के अन्तर्गत देखता है उनके लिए मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिए अदृश्य नहीं होते।[1] इसके अतिरिक्त स्पिनोजा और गीता के दर्शन में इस बात को लेकर सहमति है कि ईश्वर का ज्ञान सामान्य इन्द्रिय ज्ञान अथवा बौद्धिक ज्ञान के द्वारा नहीं प्राप्त किया जा सकता। दोनों ही दर्शनों में यह माना गया है कि ईश्वर का ज्ञान उच्चतर अनुभूति के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। ईश्वर अनन्त है। अनन्त का ज्ञान न तो बुद्धि द्वारा प्राप्त किया जा सकता है और न ही बुद्धि के द्वारा उसका विश्लेषण ही किया जा सकता है। उच्चतर ज्ञान अथवा उच्चतर अनुभूति बुद्धि से परे की स्थिति है। इसमें प्राप्त ज्ञान के विषय को बौद्धिक दृष्टि से अथवा वैज्ञानिक दृष्टि से सत्यापित नहीं किया जा सकता तथा इसे जो अनुभव करेगा वही सत्यापित कर सकता है। स्पिनोजा के अनुसार ईश्वर अनन्त धर्मात्मक है तथा उसमें अनन्त गुण हैं। हम अपनी बुद्धि द्वारा उसके चित् और अचित् दो ही गुणों को जान सकते हैं। ईश्वर अनन्त है। सार्वभौम ईश्वर के लिए किसी विशेषण की आवश्यकता नहीं। निर्वचन तो असीम ईश्वर को ससीम बना देता है। अतः ईश्वर का निर्वचन मिथ्या है।

सर्वेश्वरवाद मानता है कि ईश्वर ही सब कुछ है और सब कुछ ईश्वर है। इसलिए सर्वेश्वरवाद के अनुसार ईश्वर विश्व में अन्तर्व्याप्त है और विश्व भी सम्पूर्णतया ईश्वर में सन्निहित है। अर्थात जो कुछ जगत् में है वह ईश्वर से है। उपनिषद में भी कहा गया है कि सब कुछ परमात्मा में है और सब कुछ में परमात्मा है। इसी

---

(1) अविभक्तं च भूतेषु विभक्तामेव च स्थितम् ।

भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥ -गीता, 13.16 ।

प्रकार का वर्णन गीता में भी प्राप्त होता है। गीता में ईश्वर को विश्व में उसी प्रकार अन्तर्व्याप्त माना गया है जिस प्रकार उजलापन दूध में अन्तर्व्याप्त देखा जाता है। इस उपमा से यह बोध होता है कि विश्व में कोई भी घटना या वस्तु बिना ईश्वर के नहीं रह सकती और ईश्वर सर्वव्यापक सत्ता है। ईश्वर की अनुभूति में ही मानव कल्याण निहित है। ईश्वरीय अनुभूति प्राप्त करने का आचरण ही सर्वोत्तम है। जीवन में सुख और शान्ति 'ईश्वर-प्रेम' पर ही निर्भर है। सब कुछ ईश्वरमय तथा ईश्वर ही सब कुछ है। यही ईश्वर-प्रेम स्पिनोजा का रहस्यवादी प्रेम है जो उपनिषद और गीता के सन्निकट है।

इसी प्रकार पूर्वी तथा पाश्चात्य दर्शन के संबंध में ब्रैडले और श्री अरविन्द के परमसत् विषयक रहस्यवाद से संबंधित विषय पर ही कुछ साम्यता दृष्टिगोचर होती है।यह साम्यता है परमसत् को सर्वग्राही मानना। श्री अरविन्द के अनुसार परमसत् सर्वग्राही हैं। यह अस्तित्व के समस्त पक्षों को अपनी सर्वसमावेशी एकता में समाविष्ट करता है। श्री अरविन्द के अनुसार निर्गुण और सगुण, एक और अनेक, सत् और संभूति एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं अपितु ये सत् के पूरक पक्ष है। बुद्ध और हेराक्लाइटस जैसे दार्शनिक संभूति को ही परमसत् मानते हैं। वस्तुतः ये शुद्ध सत् की यथार्थता का पूर्णतः निषेध करने के लिए प्रवृत्त हो जाते हैं। परन्तु श्री अरविन्द संभूति को शुद्ध सत् की क्रिया के रूप में स्वीकार करते हैं। शंकर की तरह वह संभूति को अयथार्थ नहीं मानते हैं। इनके अनुसार सत् ही संभूति का आधार है। इस प्रकार संभूति सत् पर आधृत है। श्री अरविन्द के अनुसार ब्रह्म की शान्त निश्चलता एवं उसकी

क्रियात्मक शक्ति या गति में विरोध नहीं हैं उनके अनुसार केवल शान्त निश्चल एवं निष्क्रिय अनन्त अर्थात् ऐसा अनन्त जो अनन्त शक्ति और ऊर्जा से माना ही नहीं जा सकता है। शक्तिहीन निरपेक्ष कल्पना में नहीं आ सकता है। वस्तुतः अनन्त ऊर्जा परमसत् की क्रियात्मक शक्ति होनी चाहिए। इस प्रकार श्री अरविन्द के अनुसार ब्रह्म की शान्त निश्चलता ही सृष्टि की ऊर्जा एवं गति को धारण करती है। इस प्रकार ब्रह्म की सान्त निश्चलता एवं क्रियात्मकता परस्पर पूरक एवं अपृथक्करणीय है। अतः श्री-अरविन्द का परमसत् सर्वग्राही है।

ब्रैडले के अनुसार भी परमसत् सर्वग्राही है। परमसत् की सर्वग्राही एकता में सम्पूर्ण दृश्य जगत् समाविष्ट है। इसमें मूर्त वस्तुओं का नानात्व सम्मिलित है। ब्रैडले इसे मूर्त सामान्य कहते हैं। सम्पूर्ण आभास परमसत् में समाविष्ट है। परमतत्व के भीतर कोई भी आभास लुप्त नहीं हो सकता। सर्व की एकता में प्रत्येक का योग है और उसके लिए प्रत्येक अनिवार्य है। किसी भी एक पक्ष अथवा तत्व से रहित होने पर चरमतत्व को निरर्थक कहा जा सकता है। कोई भी तत्व कितना ही गौण क्यों न हो वह उस अपेक्षाकृत सर्व में सुरक्षित रह जाता है जिसमे उसका स्वरूप समाविष्ट होकर विलीन हो जाता है। जगत् का प्रत्येक क्षेत्र एवं स्तर परमसत् के भीतर एक आवश्यक तत्व होता है। वस्तुतः प्रतीति के सभी विषय सत् में समाविष्ट है। ब्रैडले के अनुसार आभास सत् की सम्पत्ति है। उनका वक्तव्य है कि चरमतत्व की आभासों के अतिरिक्त अन्य कोई सम्पत्ति नहीं है। वस्तुत : यह आभासों के द्वारा ही समृद्ध होता है। परमसत् के भीतर सभी शुभाशुभ, सुख, दुःखादि एवं आभास समाविष्ट हैं।

अत: ब्रैडले के अनुसार सभी आभास परमसत् की सर्वग्राही एकता में सामंजस्य युक्त ढंग से अवस्थित हैं परन्तु आभास जिस तरह हमें प्रतीत होते हैं उसी तरह परमसत् में अवस्थित नहीं हैं। अपितु आभास परमसत् में परिवर्तित होकर अवस्थित होते हैं। परन्तु सभी आभासों में एक ही तरह का परिवर्तन नहीं होता है अपितु कुछ आभासों में अधिक परिवर्तन अपेक्षित होता है जबकि कुछ आभासों को परमसत् की सर्वग्राही एकता में समाविष्ट होने के लिए कम परिवर्तन ही अपेक्षा होती है। जिन आभासों को कम परिवर्तन की अपेक्षा होती है उनमें सत्यता की मात्रा उतनी ही अधिक मानी जाती है। इस प्रकार सभी आभास परमसत् की सर्वग्राही एकता में परिवर्तित होकर सामंजस्ययुक्त ढंग से समाविष्ट हैं। अत: यह स्पष्ट है कि श्री अरविन्द और ब्रैडले दोनों ही परमसत् की सर्वग्राहिता का प्रतिपादन करते हैं।

श्री अरविन्द और ब्रैडले के रहस्यवाद में एक साम्य यह भी है कि जिस-प्रकार श्री अरबिन्द भौतिक तत्व, प्राण तथा मन के स्तर मानते हैं उसी प्रकार ब्रैडले आभास के स्तर मानते हैं। ब्रैडले के आभास की अवधारणा पर जब हम दृष्टिपात करते हैं तब हम पाते हैं कि उनके यहाँ आभासों में उच्चतर एवं निम्नतर का एक क्रम है। वे कहते हैं कि दो आभासों में जो आभास अधिक विस्तृत या अधिक सामंजस्ययुक्त है वह अधिक यथार्थ है। इसी प्रकार श्री अरविन्द के अनुसार भौतिक तत्व, प्राण तथा मन का जो यह जगत् है उसमें स्तर है। परन्तु ये परमसत् के स्तर नहीं हैं अपितु ये सत् की अभिव्यक्ति के स्तर हैं। वस्तुत: भौतिक तत्व में भी ब्रह्म अपनी पूरी क्षमता के साथ विद्यमान है। परन्तु वहाँ वह गुप्त रूप से विद्यमान है। प्राण के

किन्तु यह कभी नहीं पाता कि उसने सम्पूर्ण: ईश्वर का अनुभव कर लिया है। क्योंकि वह तो असीम का अनुभव है। दर्शन का ध्येय इससे भिन्न है। वह ईश्वर का विवेचन है। उसका कार्य केवल बौद्धिक है। इसे एक ही विषय को लेकर निरन्तर एवं चिरकाल तक करते रहने का कोई प्रयोजन नहीं है क्योंकि यह अपरोक्ष न होकर परोक्ष होता है। परोक्ष चिन्तन वहीं तक अग्रसर हो सकता है जहाँ तक उस चिन्तन के उपादान या प्रदत्त उसे ले जा सकते हैं। दार्शनिक हैसियत से हमारा काम दर्शाना, तर्क क़रना और ऐसी युक्तियाँ देना हैं जो बुद्धि को संतोष दे सके। किन्तु रहस्यवादी का कार्य युक्तियों से बुद्धि को संतोष देना नहीं वह तो उस साक्षात् अनुभव की कामना करता है जिसका युक्तियों द्वारा मात्र अनुमान किया जा सकता है। पाश्चात्य संदर्भ में दर्शन का अर्थ ज्ञान के प्रति प्रेम है अर्थात बौद्धिक प्रेम है जिसमें भावना या विश्वास का सहारा नहीं लिया जाता वरन् बुद्धि का प्रयोग किया जाता है। पाश्चात्य रहस्यवादी विचारकों जैसे स्पिनोजा, ब्रैडले, काण्ट आदि रहस्यवाद के संदर्भ में दार्शनिक अर्थ को ही प्रधानता देते हैं जबकि उपनिषद, वेदान्त गीता रहस्यवाद के विषय को अद्भुत होने के कारण वर्णन से बाहर मानते हैं क्योंकि अनुभव का विषय विलक्षण तथा रहस्यात्मक होता है। इसलिए भाषा की सीमा में बाँधना असंभव हो जाता है। भाषा बुद्धि का उपकरण है। आत्मानुभूति की कोई भाषा नहीं होती है। शंकर का मत है कि बुद्धि द्वारा आत्मा को जानना असंभव है क्योंकि बुद्धि तो अनात्मक की श्रेणी में है। यदि आत्मा को किसी दूसरी वस्तु के सहारे जाना जाये तो उस दूसरी वस्तु के ज्ञान के लिए तीसरी वस्तु की और तीसरी वस्तु के ज्ञान के लिए चौथी वस्तु

की आवश्यकता होगी और यह क्रम अनन्त तक चलता रहेगा और इस प्रकार अनावस्था दोष उत्पन्न हो जायेगा। अत: इस कठिनाई को दूर करने के लिए आत्मा को पूर्वी दर्शन में स्वप्रकाश माना गया है जहाँ आत्मा को अपना ज्ञान स्वयं रहता है। उपनिषद भी इस तथ्य को स्वीकार करता है कि आत्मज्ञान के लिए किसी दूसरी वस्तु की आवश्यकता नहीं पड़ती। गीता में भी रहस्यवाद को गुह्यज्ञान के रूप में माना गया है जिसकी शाब्दिक अभिव्यक्ति असंभव है। रहस्य गोपनीय ज्ञान की ग्रन्थि का विमोचन है जिसके माध्यम से सत्य का साक्षात्कार होता है। तत्व के यथार्थ स्वरूप की उपलब्धि होती है। इस आलौकिक ज्ञान को अभिव्यक्त करने में वाणी असमर्थ है इसलिए जिन संतों या महात्माओं को इस रहस्य का सही पता है वे मौन धारण कर लेते हैं। उनका मौन गुप्त ज्ञान रहस्य का सूचक है। गीता के विपरीत स्पिनोजा का रहस्यवाद बौद्धिक रहस्यवाद कहलाता है। स्पिनोजा का तत्व चिन्तन तार्किक, आकारिक तथा यांत्रिक है।

पाश्चात्य रहस्यवाद सैद्धान्तिक है क्योंकि इसका उदय आश्चर्य एवं उत्सुकता से हुआ है। वहाँ का दार्शनिक अपनी जिज्ञासा को शान्त करने के उद्देश्य से विश्व, ईश्वर और आत्मा के संबंध में सोचने के लिए प्रेरित हुआ। वहाँ दर्शन का अनुशीलन किसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए न होकर स्वयं ज्ञान के लिए किया गया है। अत: पाश्चात्य रहस्यवाद को साध्य के रूप में चित्रित किया गया है। पाश्चात्य रहस्यवाद के विपरीत पूर्वी रहस्यवाद में व्यावहारिकता का पुट परिलक्षित होता है। यहाँ रहस्यवाद एक साधन के रूप में चित्रित किया गया है और वह साधन है मोक्ष की प्राप्ति का। मोक्ष की प्राप्ति

दुःखों के उन्मूलन से ही हो सकती है और रहस्यानुभूति एक ऐसी अवस्था है जहाँ सम्पूर्ण दुःखों का अन्त हो जाता है। गीता में इसे 'स्थितप्रज्ञ' की उपाधि से विभूषित किया गया है। स्थितप्रज्ञ वह है जो सम्पूर्ण कामनाओं को त्याग कर आत्मतुष्ट रहता है। वह दुःख में मन से उद्विग्न नहीं होता।, सुख के प्रति स्पर्धा नहीं रखता और राग, भाव एवं क्रोध से परे होता है। वह शुभ वस्तुओं की प्राप्ति पर प्रसन्न नहीं होता और अशुभ वस्तुओं की उपलब्धि पर द्वेष नहीं करता। वह अपनी इन्द्रियों को पूरी तरह से अपने वश में कर लेता है। उसकी बुद्धि निश्चल रहती है। जिस प्रकार विभिन्न नदियों के मिलते रहने पर भी समुद्र शान्त रहता है उसी प्रकार स्थितप्रज्ञ व्यक्ति में सभी भोग बिना विकार उत्पन्न किये हुए समा जाते हैं और वह परम शान्ति को प्राप्त करता है। ऐसा व्यक्ति सम्पूर्ण कामनाओं को त्याग कर ममता रहित एवं अहंकार रहित होकर शान्ति को प्राप्त होता है। यह स्थिति 'ब्राह्मी स्थिति' है। जब व्यक्ति इस स्थिति में पहुँच जाता है तब वह मोहग्रस्त नहीं होता अपितु ब्रह्म निर्वाण प्राप्त करता है।[1] इस प्रकार स्पष्ट होता है कि भारतीय रहस्यवाद जीवन के अधिक निकट है क्योंकि इसके द्वारा जो रहस्यानुभूति प्राप्त होती है वह मनुष्य को दुःखों से छुटकारा दिलाती है और मोक्ष के मार्ग को प्रशस्त करती है जबकि पाश्चात्य रहस्यवाद मात्र अपनी बौद्धिक जिज्ञासा की संतुष्टि और मानसिक व्यायाम से संबंधित है।

पूर्वी दर्शन में परमतत्व के साक्षात्कार हेतु विभिन्न मनुष्यों की मानसिक रुचि और क्षमता के अनुसार विविध मार्गों का सृजन किया गया है। ये मार्ग हैं– ज्ञान, भक्ति और कर्म

(1) गीता, 2/55-72 ।

से संबंधित जबकि पाश्चात्य रहस्यवादी दर्शन को इस तथ्य को नहीं स्वीकार किया गया है। उसमें व्यक्तियों की रुचियों और क्षमतानुसार रहस्यानुभूति के मार्ग तक पहुँचने के लिए कोई प्रयास इस तरह का नहीं किया गया है। वहाँ तो बुद्धि को ही प्रधानता दी गई है। भगवत गीता में ज्ञान, भक्ति और कर्म इन तीनों का ही उल्लेख किया गया है। यही तथ्य गीता की सार्वभौमिकता का रहस्य है कि उसमें सभी रुचियों और प्रवृत्तियों के लोगों को अपने अनुकूल संदेश प्राप्त हो जाते हैं। कर्मयोग वह सिद्धान्त है जो यह मानता है कि ईश्वर का साक्षात्कार कर्म के द्वारा हो सकता है। ईश्वर के साक्षात्कार के लिए हमें हमारे कर्म छोड़ने की कोई आवश्यकता नहीं है किन्तु कर्म निष्काम भाव से अर्थात् फल की प्राप्ति की आशा के बिना करें तभी हम जीवन के परम लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं। अनासक्त भाव से किये गये बंधनकारी नहीं होते। भक्ति का मार्ग भावना प्रधान लोगों के लिए है। श्रीमद् भागवत पुराण में नौ प्रकार की भक्ति की चर्चा की गई है, ईश्वर के नाम का श्रवण करना, उसका भजन कीर्तन करना, उसे निरन्तर स्मरण करते रहना, उसके चरणों की सेवा करना, उसकी अर्चना तथा वंदना करना, स्वयं को उसका सेवक समझकर उसकी आज्ञा का पालन करना एवं स्वयं को ईश्वर का मित्र समझकर उसके प्रति मित्रवत् व्यवहार करना तथा ईश्वर के प्रति आत्म-निवेदन करना ये भक्ति के नौ भेद हैं। इनमें से व्यक्ति चाहें जिस भावना से ईश्वर की भक्ति कर सकता है और परमतत्व का साक्षात्कार कर सकता है जो रहस्यवाद का मुख्य लक्ष्य है। ज्ञानयोग वह मार्ग है जो ससीम का असीम से अपरोक्षानुभूति के माध्यम से मिलन है। यह अणु आत्मा का यह अनुभव करना है कि वह विभु परमात्मा से भिन्न नहीं है। भारतीय दर्शन में भी इन तीनों मार्गों का उल्लेख मिलता है। मीमांसा दर्शन कर्म प्रधान है, अद्वैत वेदान्त ज्ञान प्रधान एवं विशिष्टाद्वैतवाद

भक्ति प्रधान है। इस प्रकार पूर्वी दर्शन में परमतत्व के साक्षात्कार हेतु ज्ञान, भक्ति और कर्म रूपी तीन मार्ग सुलभ हैं। पाश्चात्य दर्शन के प्रसंग में व्यक्तियों की रुचियों और योग्यता के अनुसार पूर्वी दर्शन के समान इन तीनों मार्गों का कोई उल्लेख नहीं मिलता।

पूर्वी दर्शन में परमतत्व के साक्षात्कार हेतु गुरुदीक्षा के महत्व पर प्रकाश डाला गया है जबकि पाश्चात्य दर्शन में कुछेक प्रसंग को छोड़कर गुरु की महिमा का कोई दृष्टान्त नहीं मिलता। प्लेटो के दर्शन में गुरु की महत्ता पर प्रकाश डाला गया है। किन्तु समस्त पूर्वी दर्शन रहस्यानुभूति की स्थिति तक पहुँचने में गुरुदीक्षा के महत्व को स्वीकार करता है। उपनिषदों में गुरुदीक्षा के महत्व के विषय में बताया गया है कि– "जब तक गुरु द्वारा आत्म साक्षात्कार की दीक्षा नहीं मिलती तब तक मनुष्य आध्यात्मिक जीवन का लक्ष्य नहीं प्राप्त कर सकता।[1]" साथ ही यह भी कहा गया है कि यदि धर्म गुरु वास्तव में उच्चकोटि का आत्मज्ञानी न हो तो आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति में कठिनाई होगी और पुनः जब यदि दीक्षा ऐसे आध्यात्मिक गुरु से ली जाती है जिसने आत्मा के साथ अपने तादात्म्य का अनुभव कर लिया है तो उस सूक्ष्म मार्ग के ज्ञान की कोई आशा नहीं की जा सकती जो तर्क और विवाद की शक्ति से परे है। तर्क कूटों में हमें अपनी बुद्धि का अपव्यय नहीं करना चाहिए क्योंकि बिना गुरु से दीक्षा प्राप्त किये हम आत्मज्ञान की प्राप्ति नहीं कर सकते जो रहस्यवाद का मूल आधार है। शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में भी कहा गया है कि जो साधक साधन-चतुष्टय से युक्त होकर अर्थात् नित्यानित्य वस्तु विवेक ज्ञान,

---

(1) छांदोग्य उपनिषद, 4/9/3 ।

इहामुत्रार्थ भोग-विराग, शमदमादि साधन सम्पद, मुमुक्षुत्वं इन चार साधनों से युक्त होकर ऐसे गुरु के चरणों में उपस्थित होना चाहिए जिसे ब्रह्मज्ञान की अनुभूति प्राप्त हो चुकी हो। गुरु के साथ साधक को श्रवण, मनन और निदिध्यासन की प्रणाली का सहारा लेना पड़ता है। इन प्रणालियों से गुजरने के पश्चात् जब ब्रह्म की सत्यता में उसे अटल विश्वास हो जाता है तब साधक को गुरु 'तत्वमसि' (तू ही ब्रह्म है) की दीक्षा देते हैं। जब साधक इस तथ्य की अनुभूति करने लगता है तब वह ब्रह्म का साक्षात्कार पाता है जिसके फलस्वरूप वह कह उठता है 'अहं ब्रह्मास्मि'। जीव और ब्रह्म का भेद हट जाता है, बन्धन का अंत हो जाता है तथा मोक्ष की अनुभूति हो जाती है। मोक्ष की अवस्था में जीव ब्रह्म में विलीन हो जाता है। समस्त द्वैत अद्वैत में मिल जाते हैं। इस प्रकार पूर्वी दर्शन में गुरु कृपा का महत्व परमतत्व के साक्षात्कार हेतु आवश्यक है। बिना गुरु कृपा के रहस्यानुभूति की अवस्था तक साधक नहीं पहुँच सकता। यदि गुरु के बिना इस मार्ग तक पहुँचने का प्रयास किया जाये तो अनेक दुष्परिणाम हो सकते हैं। पाश्चात्य दर्शन में गुरु का कुछेक प्रसंगों में छोड़कर अन्य कहीं कोई महत्व नहीं दृष्टिगोचर होता। यहाँ स्वतन्त्र रूप से दार्शनिकों ने चिन्तन किया है।

पाश्चात्य रहस्यवाद विश्लेषणात्मक है क्योंकि इसमें समस्त रहस्यात्मक विषयों की व्याख्या की गई है। उसमें समन्वय का कोई प्रयत्न नहीं किया गया है जबकि पूर्वी दर्शन संश्लेषणात्मक है क्योंकि इसमें समन्वय की प्रधानता है। पूर्वी दर्शन में ज्ञान, भक्ति और कर्म इन तीनों का समन्वय किया गया है।

पूर्वी तथा पाश्चात्य दर्शन में रहस्यवाद के अन्तर्गत परमतत्व के साक्षात्कार की जो

अनुभूति प्राप्त होती है उसमें भी अन्तर है। पाश्चात्य रहस्यवाद इस अनुभूति को 'बौद्धिक सहानुभूति' मानता है तो पूर्वी दर्शन के अनुसार यह अनुभूति सत्ता का प्रत्यक्ष अनुभव है, सहानुभूति नहीं। पूर्वी दर्शन के संदर्भ में यह माना गया है कि अनुभूति हृदय का गुण है जबकि पाश्चात्य दर्शन ने इसे इन्द्रियों एवं बुद्धि का गुण माना गया है। इस संदर्भ में पूर्वी दर्शन मानता है कि बुद्धि द्वारा केवल आभास का ज्ञान होता है। अनुभूति द्वारा वास्तविक सत्ता का ज्ञान होता है। पाश्चात्य दर्शन अनुभूति को सम्प्रेषणीय मानता है किन्तु पूर्वी दर्शन अनुभूति को असम्प्रेषणीय मानता है। यह मूलतः वैयक्तिक अनुभव है। यह सभी कोटियों से परे है। पूर्वी दर्शन में अनुभूति में सत्ता का ज्ञान सम्पूर्णता में होता है। इन्द्रिय और बुद्धि द्वारा प्राप्त ज्ञान आंशिक एवं खण्डित होता है। इसी प्रकार इन्द्रिय एवं बुद्धि द्वारा प्राप्त ज्ञान देशकाल में होता है किन्तु अनुभूति द्वारा प्राप्त ज्ञान वास्तविक काल में होता है।

पूर्वी दर्शन में रहस्यवादी के लिए दार्शनिक ज्ञान एवं विधि की कोई आवश्यकता नहीं बतायी गई है। यदि ऐसा होता तो बहुत से अपढ़ रहस्यवादी जैसे- कबीर आदि अपने उत्कृष्ट विचारों को प्रस्तुत नहीं कर पाते। कबीर की आत्मानुभूति प्रक्रिया उन्हें परमात्मा के बहुत निकट पहुँचा चुकी थी जिसका उल्लेख रानडे ने पनी पुस्तक 'पाथ वे टू गॉड' और 'परमार्थ सोपान' दोनों में स्पष्ट रूप से किया है।[1] इसके विपरीत पाश्चात्य दर्शन में रहस्यवादी के लिए दार्शनिक ज्ञान एवं विधि की आवश्यकता पर बल दिया गया

---

(1) त्रिपाठी, जटाशंकर : भारतीय समकालीन दर्शन में प्रो० रानडे के योगदान को समीक्षात्मक अध्ययन, पृ०सं० -148।

है। पूर्वी दर्शन में इस बात पर बल दिया गया है कि सभी रहस्यवादी दार्शनिक हो सकते हैं परन्तु सभी दार्शनिक रहस्यवादी नहीं हो सकते। जबकि पाश्चात्य चिन्तन की धारणा इससे भिन्न है। इसके अनुसार सभी दार्शनिक रहस्यवादी हो सकते हैं परन्तु सभी रहस्यवादी दार्शनिक नहीं हो सकते। दार्शनिक की हैसियत से उनका कार्य दर्शाना, तर्क करना और ऐसी युक्तियाँ देना है जो बुद्धि को संतोष दे सके।

पूर्वी दर्शन में रहस्यानुभूति के प्रभाव का उल्लेख किया गया है। इसमें बताया गया है कि रहस्यानुभूति की स्थिति के समय साधक के हृदय की ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं, उसके संदेह छिन्न-भिन्न हो जाते हैं, उसके कर्म फलों का नाश हो जाता है और तब वह परमतत्व का साक्षात्कार प्राप्त कर लेता है। इसके अतिरिक्त साधक पर आत्मानुभूति का तात्कालिक प्रभाव, शारीरिक उद्वेगों का पूर्ण उपशम, समस्त संशयों का समाधान, अनन्त शक्ति की प्राप्ति, अपरिमित आनन्द का उपभोग, सम्पूर्ण भव का नाश तथा वांछित फल की प्राप्ति होती है। इसके अतिरिक्त अनेक प्रकार के चमात्कारी दृष्टान्तों का उल्लेख मिलता है जैसे साधक को सूक्ष्म से सूक्ष्म विषय का ज्ञान हो जाता है। यहाँ तक कि वह दूसरे के मन की बात भी जानने योग्य हो जाता है। उसे भूत, वर्तमान और भविष्य सबके बारे में आभास हो जाता है। उपनिषदों में प्रायः चार प्रकार के आत्मानुभव के बारे में बताया गया है जिनका संबंध साधक को ध्यान प्रक्रिया में होने वाले विभिन्न वर्णों, नादों एवं प्रकाशों से है। वृहदारण्यक उपनिषद का एक अवतरण बताता है कि– "परमार्थ पथ पर बढ़े हुए साधक को केशरिया वस्त्र, लाल पतंग, अग्निशिखा, रक्तोत्पल, विद्युत की

आकस्मिक चमक आदि ऐसे ही दृश्य दिखाई देते हैं। यह आगामी साधक के वैभव हैं।[1]" पूर्वी दर्शन के विपरीत पाश्चात्य दर्शन में रहस्यानुभूति की स्थिति में इस तरह के प्रभावों, चमत्कारों आदि के विषय में कोई दृष्टान्त नहीं प्राप्त होता। क्योंकि वहाँ पर बस बौद्धिकता को ही प्रासंगिक माना जाता है।

पूर्वी दर्शन में परमतत्व के साक्षात्कार को प्राप्त करने के लिए गुह्यमंत्रों को महत्व दिया गया है। यह अनिवार्य साधन है किन्तु उसे सर्वसाधारण के लिए सुलभ नहीं पाया गया है। इसीलिए जनसाधारण के लिए वैदिक तथ्यों को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है किन्तु पाश्चात्य दर्शन में परमतत्व के साक्षात्कार हेतु गुह्यमंत्रों की कोई उपयोगिता नहीं है।

पूर्वी दर्शन में यह मान्यता निहित है कि परमतत्व का साक्षात्कार तब तक संभव नहीं हो पायेगा जब तक कि शारीरिक क्रियाओं एवं आचरणों में विशुद्धता नहीं आयेगी। इसके लिए योग को महत्व प्रदान किया गया है। ज्ञानयोग, भक्तियोग, राजयोग की चर्चा इस संदर्भ में की गई है। राजयोग अष्टांग युक्त है। इन्हें यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि कहते हैं जो मन और शरीर को संयमित करके परमतत्व के साक्षात्कार का सर्वसुलभ मार्ग प्रस्तुत करता है। जिस मनुष्य ने बुरे आचरणों का त्याग नहीं किया, जिसका मन शान्त नहीं है, जिसका चित्त एकाग्र नहीं है, जिसने मन, बुद्धि को वश में नहीं कर लिया है उसकी सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा परमात्मा की प्राप्ति नहीं हो

---

(1) वृहदारण्यकोपनिषद, 2/3/6 ।

सकती। पाश्चात्य दर्शन में परमतत्व के साक्षात्कार हेतु शारीरिक क्रियाओं एवं आचरणों की शुद्धता का कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता। यहाँ एक बात स्पष्ट कर देना प्रासंगिक होगा कि योग जो अब तक भारतीय दर्शन की धरोहर माना जाता था, हाल ही में समचार पत्रों द्वारा ज्ञात हुआ है कि पश्चिमी देश अमेरिका ने योग का पेटेन्ट अपने नाम करा लिया है और भारतीय दर्शन के अधिकार क्षेत्र से इसे बाहर कर दिया है। किन्तु अपने अधिकारों की प्राप्ति हेतु भारत इस संदर्भ में अपनी लड़ाई जारी रखेगा और विश्व के सम्मुख इसे अपनी धरोहर सिद्ध करके छोड़ेगा। समस्त वेद और उपनिषद इस बात के प्रमाण हैं कि योग भारतीय मनीषियों की ही धरोहर हैं।

पूर्वी दर्शन में परमात्मा के आलौकिक स्वरूप के दर्शन से साधक एक दिव्य आनन्द की अनुभूति प्राप्त करता है। आनन्द का प्रत्यय कोइ मनोवैज्ञानिक प्रत्यय नहीं है जैसा कि पाश्चात्य दार्शनिक मानते हैं वरन् यह तत्व दार्शनिक बोध है। सत् की पूर्ण अभिव्यक्ति का नाम आनन्द है।

पूर्वी और पाश्चात्य दर्शन में रहस्यवाद से संबंधित साम्यता और विभिन्नता पर दृष्टिपात करने से यह निष्कर्ष निकालने में कोई कठिनाई नहीं होती है कि पूर्वी दर्शन पाश्चात्य दर्शन से अधिक श्रेष्ठ है। ऐसा इसलिए क्योंकि जहाँ पाश्चात्य दर्शन का उद्देश्य मानसिक कौतुहल की शान्ति है उसका अन्य कोई लक्ष्य या उद्देश्य नहीं है वहीं पूर्वी दर्शन जीवन के अधिक निकट है और परमतत्व के साक्षात्कार की साक्षात् अनुभूति है जिसे प्राप्त कर लेने के पश्चात् मानव अपने अन्तिम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति हेतु अग्रसर होता हैं। यद्यपि भारतीय दर्शन में अनुभूति को तर्क से अधिक महत्व प्रदान किया गया

है फिर भी यहाँ किसी प्रकार के अन्धविश्वास की कोई गुंजाइश नहीं है क्योंकि यह धर्म और दर्शन के समन्वय पर विश्वास करता है। पूर्वी दर्शन की मान्यता है कि दर्शन बिना धर्म के रिक्त है और धर्म बिना दर्शन के अंधा। इन दोनों का सामंजस्य ही गंतव्य और परम लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक हो सकता है।

रहस्यवाद के संदर्भ में पूर्वी और पाश्चात्य देशों के दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन करने के पश्चात् एक प्रश्न मन में यह उठता है कि क्या परमतत्व के साक्षात्कार में रहस्यवाद वास्तव में प्रमाणित है या नहीं? कहीं ऐसा तो नहीं कि ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने हेतु जितने भी परम्परागत तर्क विफल रहे हैं उसी तरह कहीं रहस्यवाद भी जो परमतत्व के साक्षात्कार का दावा करता है निरर्थक तो नहीं? ऐसा प्रश्न इसलिए उठता है कि वैज्ञानिक दृष्टिकोण से विचार करने वाले विचारक रहस्यवाद की प्रामाणिकता में संदेह करते हैं और इसे अंधविश्वास की संज्ञा देते हैं क्योंकि वे मानते हैं कि इसकी प्रामाणिकता का निरीक्षण-परीक्षण किसी प्रयोगशाला में नहीं किया गया है। वे तो परीक्षणीय तथ्य को यथार्थ मानते हैं। किन्तु इस प्रसंग में यहाँ यह कहना उचित होगा कि जो वैज्ञानिक अपने परीक्षणों को सत्य मानते हैं वे भी अंशतः ही सत्य है क्योंकि भविष्य में अनेक नवीन अविष्कारों ने उनके परीक्षणों को खोखला साबित किया है, फिर एक बात यहाँ पर कहना प्रासंगिक है कि वैज्ञानिकों का परीक्षण भौतिक वस्तुओं और तथ्यों से संबंधित है। यहाँ रहस्यवाद जिस परमतत्व के साक्षात्कार का दावा करता है वह परमतत्व तो अतीन्द्रिय सत्ता है जिसके समक्ष जड़ जैसी निम्न सत्ता की कोई महत्ता नहीं है।

रहस्यवाद को जो लोग संदेह की दृष्टि से देखते हैं वे वास्तव में ऐसे साधारण दृष्टि

वाले व्यक्ति हैं जिनकी पहुँच इस असाधारण विषय तक हो ही नहीं सकती। उन्हें तो हर बात का बस भौतिक वस्तुओं के समान प्रमाण ही चाहिये। जबकि वे यह भूल जाते हैं कि प्रमाण तो भौतिक वस्तुओं के विषय में ही दिया जा सकता है जिसको सभी देख सकते हैं, छू सकते हैं, किन्तु परमतत्व तो इस भौतिक जगत् से परे अतीन्द्रिय सत्ता है जिसे सिद्ध करने के लिए कोई प्रमाण की आवश्यकता महसूस नहीं होती। यह तो स्वत:सिद्ध है। फिर भी यदि वैज्ञानिक रहस्यवाद के लिए उसी प्रकार का साक्ष्य चाहते हैं जिस प्रकार अदालत में न्यायधीश किसी प्रकार का निर्णय देने के लिए गवाहों की गवाही पर निर्भर रहते हैं तो ऐसे वैज्ञानिकों की जिज्ञासा को शान्त करने हेतु हम रहस्यवाद के विषय में ऐसे रहस्यवादियों को उनके समक्ष गवाह के रूप में उपस्थित कर सकते हैं जिन्होंने परमतत्व के साक्षात्कार का साक्षात् अनुभव किया है। परन्तु साधारण दृष्टि वाले यह वैज्ञानिक भला दिव्य दृष्टि वालों के अनुभव को क्या समझ सकेंगे? ऐसी स्थिति में रहस्यवाद की प्रामाणिकता को उनके समक्ष हम एक उदाहरण के द्वारा इस प्रकार भी स्पष्ट करने का प्रयत्न कर सकते हैं। मान लीजिये कि किसी व्यक्ति को दर्द हो रहा है और वह कहता है कि उसे दर्द हो रहा है किन्तु जिस व्यक्ति को वह अपनी पीड़ा बता रहा है उसे उस दर्द का कोई एहसास नहीं है तो क्या वह उसके दर्द के पीड़ा को झुठला देगा और कह देगा कि वह व्यक्ति झूठ बोल रहा है शायद नहीं। क्योंकि पीड़ित व्यक्ति का हाव-भाव, वेदना, बैचेनी, उसके दर्द होने की पुष्टि करती है। ठीक इसी प्रकार हम रहस्यवाद की प्रामाणिकता में भी वैज्ञानिकों का विश्वास दृढ़ कर सकते हैं। जैसे जिन महानुभावों ने परमतत्व का साक्षात्कार किया है उनके चेहरे पर एक ऐसा आलौकिक तेज दृष्टिगोचर होता है जो साधारण मनुष्यों से हट कर होता है। उनके प्रत्येक विचार, वाणी, मुद्राएं,

उनका व्यक्तित्व आदि सभी कुछ इतना विलक्षण होता है कि यह मानना पड़ता है कि उनका संबंध किसी दिव्य लोक से है।

परमतत्व के साक्षात्कार में रहस्यवाद एक ऐसा महत्वपूर्ण विषय है जिसे हम झुठला नहीं सकते। क्योंकि जिन रहस्यवादियों ने परमतत्व का आत्मानुभूति द्वारा साक्षात्कार किया है उनका चरित्र इतना महान है कि आज सम्पूर्ण विश्व में उनको सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है। ऐसे महानुभावों के अनुभव को हम संदेह की दृष्टि से नहीं देख सकते क्योंकि इसके पीछे उनका कोई स्वार्थ नहीं छिपा है न धन का और न ही भौतिक सुख-सुविधाओं को प्राप्त करने का क्योंकि जिस तरह से उनका रहन-सहन, खान-पान आदि है उसमें भौतिक सुख-सुविधाओं का कोई अंश दूर-दूर तक सम्मिलित नहीं है। वे तो इन भौतिक सुख-सुविधाओं को नश्वर मानते हैं और परमतत्व की ही अकाट्य सत्यता में विश्वास रखते हैं। उनके इस अनुभव को अंधविश्वास भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि अज्ञानी व्यक्ति ही अंधविश्वास के जाल में फँसता है। परमतत्व का साक्षात् करने वाले आलौकिक प्रतिभा से युक्त होते हैं। उनका ज्ञान उच्चतर होता है। उनकी वाणी द्वारा प्रस्फुटित एक-एक शब्द अनमोल होते हैं। ऐसी स्थिति में हम उनके अनुभव को न ही झुठला सकते हैं और न ही उसे अंधविश्वासजन्य ही कह सकते हैं।

रहस्यवाद की महत्ता इस बात से भी सिद्ध होती है कि पूर्वी और पाश्चात्य देशों के जो रहस्यवादी विचारक हैं उनका दूर-दूर तक कहीं कोई संवाद नहीं हुआ फिर भी रहस्यवाद के द्वारा परमतत्व के साक्षात्कार की उनकी अनुभूतियों का जो वर्णन किया गया है वह एक समान थी। जबकि वे अलग-अलग देश के रहने वाले हैं, अलग-अलग भाषा

के बोलने वाले हैं, अलग-अलग काल के हैं तथापि उनको जो गुह्यज्ञान प्राप्त हुआ है वह एक ही है। ऐसी स्थिति में हम उनके अनुभवों को झुठला नहीं सकते।

परमतत्व के साक्षात्कार का रहस्यवादी मार्ग पाश्चात्य दार्शनिक मिलर भी स्वीकार करते हैं। अपनी पुस्तक 'गॉड एण्ड रीजन' में मिलर ने परमतत्व के साक्षात्कार के एक ही मार्ग का समर्थन किया है और वह है रहस्यवाद का मार्ग। प्रो० रानडे भी इस मार्ग के प्रबल समर्थक थे। रानडे ने अपने रहस्यवाद में यह निर्धारित करने का प्रयास किया है कि ईश्वरानुभूति कोई वाह्य घटना अथवा वाह्य वस्तु की उपलब्धि नहीं है। यह आत्मा द्वारा ही आत्मा को जानने की सतत् प्रक्रिया है। आत्मज्ञान द्वारा आत्मरूप ईश्वर का दर्शन उसी प्रकार संभव बताया गया है जिस प्रकार आँख में लगे काजल को देखने के लिए आँख की ही सहायता ली जाती है। यहाँ दार्शनिक का कार्य कुछ-कुछ कलाकार के कार्य के समान है जो अपने विषय के साथ तादात्म्य कर लेता है। वास्तविक ज्ञान तो एक विलक्षण अनुभवों में ही प्राप्त होता है।[1] रहस्यवाद ऐसा ही विलक्षण अनुभव प्रस्तुत करता है। रानडे के अनुसार रहस्यवाद को पूर्णतः समझने के लिए व्यक्ति को रहस्यवादी बनना पड़ता है।

रहस्यवाद में दर्शन और धर्म का अपूर्व समन्वय निहित है तथा रहस्यवाद ईश्वर के तात्कालिक अनुभूति के संदर्भ में अधिक सशक्त है अतः उन्होंने दर्शन की अपेक्षा

(1) त्रिपाठी, जटाशंकर : भारतीय समकालीन दर्शन में प्रो० रानडे के योगदान का समीक्षात्मक अध्ययन, पृ० सं०-6 ।

रहस्यवाद को ईश्वरानुभूति के लिए उपयुक्त समझा। परमसत् के साक्षात्कार हेतु बुद्धि की अपेक्षा आत्मा की अनन्त शक्ति अधिक सशक्त और सक्षम होती है। रहस्यानुभूति के बिना परमतत्व का साक्षात्कार अथवा प्रत्यक्ष अन्तर्दर्शन संभव ही नहीं हो सकता। तत्व दर्शन तो मात्र दर्शन है जबकि रहस्यवाद दर्शन के अतिरिक्त स्पर्शन, श्रवण, संभाषण, घ्राण और रसन् भी है। इस आत्मानुभूति की प्रक्रिया द्वारा ही रहस्यवादी को तत्व का अन्तर्दर्शन होता है। 'स्वानुभूति' द्वारा सिद्ध तत्व ज्ञान दर्शन के द्वारा प्रपंचित नहीं किया जा सकता अत: यह प्रक्रिया अपने आप में स्वत:सिद्ध है। इसके लिए किसी प्रमाण विशेष की आवश्यकता नहीं है। इसके लिए साधक की स्वानुभूति ही पर्याप्त है।

रहस्यवादी दर्शन के प्रणयन में रानडे ने धर्म एवं दर्शन के मूलतत्वों की प्रामाणिकता की जाँच बहुत ही सजग होकर की है। उन्हें पूर्ण विश्वास था कि दर्शनशास्त्र द्वारा निर्देशित तर्क प्रधान एवं बौद्धिक प्रयास की अपेक्षा रहस्यवाद का अनुभूति प्रधान मार्ग अधिक प्रामाणिक है। सर्वप्रथम उन्होंने इसे व्यावहारिक मार्ग के रूप में लिया क्योंकि इसमें तर्क एवं बौद्धिक विश्लेषण की प्रधानता नहीं थी। यह मार्ग आत्मानुभूति की ओर प्रेरित करता है जिसके परिणामस्वरूप सहज ही द्वैत भाव भी नष्ट होकर परमसत् का साक्षात् अन्तर्दर्शन प्रस्तुत करता है। रानडे ने इस रहस्यवादी मार्ग की पुष्टि के लिए भारतीय दर्शन में वर्णित अन्य प्रमाणों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हुए स्वत: प्रमाणवाद के रूप में ग्रहण किया। अत: रानडे के अन्त:प्रज्ञात्मक व आत्मानुभूतिवादी प्रमाण के पूर्व अन्य प्रमाणों को अध्ययन आवश्यक है।

भारतीय दर्शन के अन्तर्गत प्राय: ज्ञान के विषय में छ: प्रकार के प्रमाण मिलते हैं

जिनमें से प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द ये चार न्याय दर्शन की देन है और शेष अनुपलब्धि एवं अर्थापत्ति पर्वतीय मीमांसा द्वारा प्रस्तुत किये गये। प्रत्यक्ष के खण्डन में रानडे ने श्री रामानुजाचार्य का तर्क प्रयुक्त किया और कहा कि रामानुज का संकेत है कि 'ज्वालाभेद' के अनुमान प्रत्यक्ष खण्डित हो जाता है अतः प्रत्यक्ष कोई स्थायी प्रमाण नहीं हैं। प्रत्यक्ष को रानडे एक विशिष्ट रूप में स्वीकार करते हैं। प्रत्यक्ष का तात्पर्य उन्होंने अन्तर्दर्शन से लिया जिसमें अपरोक्षानुभूति होती है। इसे वे स्वतः प्रमाणित व सार्वभौम मानते हैं किन्तु इन्द्रियजन्य अनुभवों अथवा प्रत्यक्ष को नहीं।

अनुमान की अनुपपत्ति दिखलाने में रानडे ने ब्रैडले, श्री हर्ष, ह्यूम आदि के विचारों को पुष्ट करते हुए बताया कि ब्रैडले निर्णय और अनुमान को प्रतिभास मानते हैं। श्री हर्ष भी व्याप्ति ज्ञान संभव नहीं मानते क्योंकि उचित व्याप्ति संबंध के लिए प्रत्येक व्यक्ति को भूत, वर्तमान और भविष्य में भी ज्ञान होना चाहिए जो कि असंभव है। अतः रानडे ने भी अनुमान को सीमित अर्थ में ही प्रमाण स्वीकार किया है।

उपमान के संदर्भ में रानडे का कथन है कि यह प्रकारान्तर से सादृश्यानुमान ही है। किन्तु सादृश्यानुमान से केवल प्रायिक निष्कर्ष प्राप्त होता है अतः यह भी वैधयुक्त नहीं है। रानडे कहते हैं कि– "इस अन्योनाश्रित सादृश्य में सादृश्यों की अनिश्चित एवं अनिर्धारित कोटियाँ अन्तर्भूत हैं"[1]

---

(1) रानडे : वेदान्त एज ए कल्मिनेशन ऑफ इण्डियन थॉट, पृ० सं०-38, भारतीय विद्याभवन, बम्बई, 1970 ।

शब्द प्रमाण की सामर्थ्य पर विचार करते हुए रानडे ने बताया कि वैशिषिकों ने इसका प्रबल खण्डन किया है। सांख्यवादी इसे इसलिए मानते हैं कि उनके अनुसार उपनिषद में सांख्यमत का ही उपदेश हुआ है। नैय्यायिक इसे ईश्वर के अधीन मानते हैं। प्रो० रानडे 'नित्यशब्द'[1] को प्रमाण मानने के पक्ष में हैं परन्तु सामान्य रूप से उन्होंने शब्द को प्रमाण नहीं माना।

अनुपलब्धि के प्रसंग में रानडे कहते हैं कि अभाव के ज्ञान का अर्थ है कि हम वह जानना चाहते हैं जो हम नहीं हैं। अत: अनुपलब्धि आवश्यक है। इसी प्रकार अर्थापत्ति को भी वैकल्पिक युक्ति कहकर अनावश्यक सिद्ध कर दिया।

रानडे का रहस्यवादी प्रमाण में दृढ़ विश्वास था। उन्होंने रहस्यवाद की प्रतिष्ठा के संदर्भ में अनुभव की प्राथमिकता को स्वीकार करते हुए कहा ''जब शब्द ब्रह्मसाक्षात्कार की अन्त:वृत्ति के स्वरूप का यथार्थ निर्देशन करने में असफल रहते हैं तो सुविधा के लिए मनोवैज्ञानिक दृष्टि से एक शब्द बुद्धि अथवा अन्तर्ज्ञान कुछ भी कह लीजिये अविष्कृत कर लेना और उसे ब्रह्मसाक्षात्कार का उत्तरदायी बनाना उपयुक्त है।[2]''

उन्होंने तर्क को श्रुतिसापेक्ष तथा श्रुतिको अनुभव सापेक्ष बताया है, किन्तु ईश्वरानुभूति के प्रसंग में दोनों को अनावश्यक एवं असमर्थ माना। तर्क परामर्श को द्वैत में विभाजित

---

(1) रानडे : वेदान्त एज ए कल्मिनेशन ऑफ इण्डियन थॉट, पृ० सं०-39।

(2) ले० रानडे, अनु० रामानन्द तिवारी : कन्स्ट्रक्टिव सर्वे ऑफ उपनिषदिक फिलासफी, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पृ० सं०-221-22।

कर देता है इसलिए वह अनावश्यक सिद्ध हुआ और श्रुति इसलिए अनावश्यक सिद्ध हुई कि रहस्यवादी का लक्ष्य केवल बौद्धिक ज्ञान प्राप्त करना नहीं है उसे तो ईश्वर का साक्षात्कार करना है। अत: अन्ततोगत्वा अनुभूति को ही रानडे ने उपयुक्त प्रमाण के रूप में मान्यता प्रदान की और अनुभव की पृष्ठिभूमि पर ही अपने रहस्यानुभूतिवादी दर्शन की स्थापना की।

रहस्यवाद अपनी उत्पत्ति मानव मन के निरन्तर शोधपरक प्रयासों में मानता है और रहस्यवादी उत्कर्ष आत्मा को अत्यधिक आनंद प्रदान करता है तो कि मानसिकता पर गहरा प्रभाव डालता है। यदि ऐसे किसी किसी दर्शन की आवश्यकता हो जो विवादो से सेहत एवं सहज बोधगम्य हो, तब वह रहस्यवादी दर्शन ही हो सकता है। क्योंकि रहस्यानुभूति किसी प्रमाण की आवश्यकता पर बल नहीं देती। वह स्वत: प्रभावित है। अपने आप में वह पर्याप्त है। वह अपने प्रमाणीकरण में अपने अतिरिक्त किसी की इोर दृष्टि नहीं डालती।

रहस्यवाद एक व्यापक प्रवृत्ति है। इसके अन्तर्गत किसी प्रकार का जातिगत, साम्प्रदायिक एवं राष्ट्रीयता का भेद नहीं है। इसका कारण यह है कि आत्मानुभूति के संदर्भ में सभी देशों एवं युगों के रहस्यवादियों में मतैक्य है। संसार के समस्त रहस्यवादियों के ईश्वर साक्षात्कार की कुछ सामान्य विशेषताएँ हैं। प्रथम तो ऐसे दार्शनिकों में नैतिक और आध्यात्मिक तत्व है, जो मानव को आध्यात्मिक जीवन की ओर ले जाते हैं। दूसरे इसमें नैतिक और आध्यात्मिक तैयारी का प्रश्न आता है जिसे पूर्णतया हल करना भी परमावश्यक है। तीसरे उसको अपने सम्मुख कुछ आदर्श रखने पड़ते हैं और इन आदर्शों का ईश्वर

से संबंध निश्चित करना पड़ता है और फिर स्वयं उस ईश्वरीय मार्ग पर चलकर तत्संबंधी ज्ञान का अनुभव करना पड़ता है। अन्त में जब वे पर्याप्त समय तक उस मार्ग पर चल लेते हैं तब उस पर कुछ निर्देशक चिन्ह निश्चित करने योग्य हो जाते हैं जिससे उनके सर्वोच्च आदर्श प्राप्ति में सहायता मिलती है। रानडे के शब्दों में "सभी युग और देशों के रहस्यवादी एक ही भाषा बोलते हैं क्योंकि वे एक ही आध्यात्मिक देश के निवासी हैं। उनमें कोई भी जाति, समाज अथवा राष्ट्र का भेदभाव नहीं। देशकाल का उनके आध्यात्मिक अनुभव के शाश्वत एवं अनन्त स्वभाव पर कोई प्रभाव नहीं है।[1]

रहस्यवाद की महत्ता इस बात से भी सिद्ध होती है कि इसमें आत्मा में ही परमात्मा का दर्शन होता है। दृश्य एवं अदृश्य का बोध कराने वाले हमारे निर्धारित पैमाने एवं ज्ञानेन्द्रियाँ जब वस्तु की ही पूरी जानकारी नहीं दे पातीं तो भला उस परमसत्ता की जानकारी किस प्रकार दे सकती हैं? अत: ऋषियों ने पवित्र अत:करण को ही आत्मानुभूति का आधार माना और यह कहा कि उस विराटसत्ता का अंश जीवात्मा के रूप में मनुष्य के भीतर बैठा हुआ है जिसकी अमूल्यता को कोई पारखी ही समझ सकता है।

वृहदारण्यक उपनिषद में भी कहा गया है कि आत्मानुभव रहस्यात्मक विधि द्वारा आत्मा के दिव्य तेज का अनुभव है।[2] रहस्यवाद की प्रवृत्ति स्थित के पूर्ण ज्ञान में सर्वथा

---

(1) रानडे : पाथ वे इन गॉड, (भूमिका) पृ० सं०-2 , आध्यात्म विद्या मंदिर सांगली, 1954 ।

(2) वृहदारण्यकोपनिषद, 2/3/5 ।

अद्वितीय है। यह मार्ग साधक के लिए सुगम्य, सुस्पष्ट एवं वरेण्य है। आत्मानुभव को भौतिक आनन्द के परिणामों से तौला नहीं जा सकता क्योंकि आध्यात्मिक भौतिक सुख से भिन्न है।

रहस्यवाद का परमतत्व के साक्षात्कार में समर्थन करते हुए शंकर कहते हैं कि बुद्धि द्वारा आत्मा को जानना असंभव है क्योंकि बुद्धि तो अनात्मक की श्रेणी में है। यदि आत्मा को किसी दूसरी वस्तु के सहारे जाना जाय तो उस दूसरी वस्तु के ज्ञान के लिए किसी तीसरी वस्तु की ओर तीसरी को चौथी से जाना जायेगा और यह क्रम अनन्त तक चलता रहेगा जिससे अनावस्था दोष उपस्थित हो गया अतः इस कठिनाई से बचने का एक ही मार्ग है - आत्मा को स्वप्रकाश मानना, जहाँ आत्मा को अपना ज्ञान स्वयं रहता है। दार्शनिक शब्दावली में उन्होंने इसे आत्म-प्रज्ञा कहा। उपनिषदों में इसका स्पष्ट संकेत है कि आत्मा को आत्मज्ञान के लिए किसी दूसरी वस्तु की आवश्यकता नहीं पड़ती।[1] इस प्रकार आत्मा अद्वैत ज्ञाता है।

परमतत्व के साक्षात्कार हेतु रहस्यवाद का समर्थन करते हुए ज्ञानेश्वरी के ग्यारहवें अध्याय में बड़ा ही मार्मिक वर्णन है। यदि साधक ईश्वर को छूना चाहता है तो ईश्वर ऐसा न होने देगा। ज्ञानेश्वर का इससे यही तात्पर्य था कि उसे जानने के लिए इन्द्रियों का प्रयोग निरर्थक है। वह तो मात्र आत्मानुभूति द्वारा ही जाना जा सकता है।[2]

---

(1) केनपोनिषद, 1/3 ।

(2) त्रिपाठी, जटाशंकर : भारतीय समकालीन दर्शन में प्रो० रानडे के योगदान का समीक्षात्मक अध्ययन, पृ०सं० - 115 ।

ईश्वर साक्षात्कार के प्रसंग में उन्होंने कहा, ईश्वर साक्षात्कार का मार्ग साधक की अनुभूतियों के पदचिन्हों में स्पष्ट दिखाई पड़ता है। उन्हें कहीं अन्यत्र जाने की आवश्यकता नहीं है। एक बार ईश्वरानुभूति प्राप्त कर लेने पर बार-बार प्रयत्न नहीं करना पड़ता क्योंकि फिर तो स्मरण मात्र ही पर्याप्त होता है। केवल उस अनुभूति की धारणा को क्रमश: उनके दिव्य रूप के संदर्भ में हृदय में जाग्रत करते रहना चाहिये। यही मुक्ति का मार्ग है। इसी मार्ग पर साधक परम लाभ की प्राप्ति कर सकता है।

रहस्यवाद आत्मानुभूति का चरम लक्ष्य ईश्वरानुभव को ही मानता है। रहस्यवादी सामाजिक उन्नयन के लिए अपनी वाणी उन सभी व्यक्तियों तक पहुँचाने का प्रयत्न करते हैं जो अज्ञानवश अपने आपको नहीं जान पाते हैं। आत्मज्ञान द्वारा वे यह सिद्ध करना चाहते हैं कि ईश्वर का साक्षात् दर्शन आत्मा में ही हो सकता है क्योंकि आत्मा परमात्मा का ही रूप है। डा० राधाकृष्णन ने रहस्यवाद को 'प्रमाण्यं निरपेक्षं'[1] कहा है। डा० राधाकृष्णन के शब्दों में "आत्मानुभूति अतार्किक नहीं बल्कि तर्क से परे है।"[2]

रहस्यवाद अज्ञेयवाद से सर्वथा भिन्न हैं। अज्ञेयवादी के विरुद्ध रहस्यवादी का विश्वास है कि सत् का गुण यद्यपि वर्णनीय नहीं है तथापि एक प्रकार अव्यवहित ज्ञान द्वारा उसका अनुभव किया जा सकता है जो संप्रत्ययों के परोक्ष ज्ञान की अपेक्षा बहुत अधिक संतोषप्रद होता है। सत् के इस अव्यवहित अनुभव को रहस्यवादियों के द्वारा सत्ता की एक असाधारण अथवा विशिष्ट अवस्था माना जाता है। बुद्धिवादियों के अनुसार

(1) राधाकृष्णन : एन आइडियलिस्टिक वे ऑफ लाइफ, पृ० सं० - 145 ।

(2) वही, पृ०सं० - 247 ।

रहस्यवाद का सिद्धान्त रहस्यवादियों की अपने ही मस्तिष्क की उपज है। अत: रहस्यवाद अतार्किक एवं विरोधपूर्ण है। कुछ लोग यह कहते हैं कि रहस्यवाद मानवीय संवेगों पर आधारित है। इसमें भावनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है जिसका परिणाम यह होता है कि रहस्यात्मक अनुभूति आत्मनिष्ट हो जाती है। अत: रहस्यवाद में वस्तुनिष्ठता का अभाव है। रहस्यवाद के विरुद्ध यह आक्षेप भी लगाया जाता है कि यह संशयवाद की भूमिका तैयार करता है। रहस्यवाद में तथ्य की अकथनीयता के कारण तथा अवर्णनीयता के कारण अभावात्मक पद्धति को प्रश्रय दिया जाता है।

उपरोक्त सभी आक्षेपों का उत्तर रहस्यवादी दार्शनिकों ने सप्रमाण प्रस्तुत किया है। वे अपने रहस्यवाद को इतना प्रभावकारी मानते हैं कि विश्व की सम्पूर्ण दार्शनिक विधि को आत्मसात करने का दावा प्रस्तुत करते हैं। यद्यपि रहस्यानुभूति का भावात्मक वर्णन संभव नहीं है तथापि निषेधात्मक वर्णन के लिए इसके अन्तर्गत स्थान है। अत: निषेधात्मक रूप से रहस्यवादी अनुभूतियों का प्रस्तुतीकरण इसे अभावात्मक नहीं बना सकता। रहस्यवाद के पीछे किसी प्रकार के संशय व अभाव को भी रहस्यवादी नहीं मानते। यह ईश्वर के अपरोक्षानुभव का साधन है। रहस्यवादियों का विचार है कि रहस्यवाद को अपनाकर व्यक्ति जीवन-पर्यन्त निरन्तर अपनी सभी वृत्तियों को ईश्वरोन्मुख करके विविध सोपानों पर क्रमश: चढ़ता रहता है। यह पथ सीमित नहीं है कि इसे जीवन के अंश विशेष में ही समाप्त कर लिया जाये। रहस्यवादी के लिए दार्शनिक ज्ञान एवं विधि की कोई आवश्यकता नहीं है। यदि ऐसा होता तो कबीर आदि अपढ़ रहस्यवादी अपने उत्कृष्ट विचारों को प्रस्तुत नहीं कर पाते। अत: रहस्यवाद पर जितने भी आक्षेप लगाये गये

हैं वे सभी एकांगी हैं। उनका हल उनके आक्षेपों में ही निहित है क्योंकि अनुभव की प्रामाणिकता से यह स्वत: सिद्ध है कि इसका खण्डन नहीं हो सकता। यह तार्किक विश्लेषण से परे है। यह ईश्वरानुभूति की मौन प्रक्रिया है। इसका शब्दों द्वारा न तो मण्डन ही हो सकता है और न तो खण्डन ही। श्री अरविन्द के अनुसार परमतत्व को बुद्धिगम्य नहीं माना जा सकता। उन्होंने ईश्वर के साक्षात् ज्ञान दर्शन को परमतत्व से साक्षात्कार का सर्वोत्कृष्ट मार्ग बताया। स्वानुभूति की परिभाषा देते हुए वे कहते हैं "उस बुद्धि द्वारा बहिर्भूत साक्षात् तथा स्वत:सिद्ध ज्ञान को हम स्वानुभूति कहते हैं जो देशकाल एवं कारणता से परिच्छिन्न नहीं है।[1]

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि रहस्यवाद का मार्ग परमतत्व के साक्षात्कार में सर्वाधिक प्रामाणिक है। इसकी सत्यता में कोई संदेह नहीं किया जा सकता। यदा-कदा जो आक्षेप और संदेह इस पर लगाये जाते हैं, वे नितान्त एकांगी हैं और उन आक्षेपों का निराकरण रहस्यवादियों द्वारा बहुत ही सहजगता के साथ कर दिया गया है। फिर भी जो इसकी सत्यता में संदेह करते हैं वे अज्ञानी, भौतिकवादी प्रवृत्ति के साधारण लोग हैं जो शायद इस योग्य ही नहीं हैं जिन्हें इस अतीन्द्रिय, आलौकिक सत्ता की सत्यता के विषय में कोई प्रमाण दिया जाये।

•••••••

---

(1) भट्टाचार्य, अभयचंद्र : श्री अरविन्द दर्शन, पृ० सं० 25, जगबन्धु प्रकाशन, ज्ञानपुर, वाराणसी, 1973

उपसंहार

पूर्वी और पाश्चात्य दर्शन के संदर्भ में रहस्यवाद का जो उपरोक्त तुलनात्मक विवेचन किया गया है, उससे यह तथ्य उभरकर आता है कि रहस्यवाद के संदर्भ में दो दृष्टिकोणों से विचार किया जाता है। प्रथम दृष्टिकोण यह है जो मानता है कि रहस्यवाद धर्म से ही उद्भूत है अर्थात् रहस्यवादी के लिए धर्म में विश्वास करना आवश्यक है बिना धर्म में विश्वास किये रहस्यवादी बनना असंभव है। ऐसे दृष्टिकोण वाले विचारक धर्म का तात्पर्य किसी आलौकिक सत्ता में विश्वास करना मानते हैं। दूसरा दृष्टिकोण जो रहस्यवाद के संदर्भ में है वह यह मानता है कि रहस्यवाद धर्म से स्वतन्त्र है अर्थात् सभी धर्मपरायण व्यक्ति रहस्यवादी नहीं होते और न ही सभी रहस्यवादी धर्मपरायण होते हैं। ऐसी स्थिति में रहस्यात्मक अनुभव को धार्मिक अनुभव मान लेना उचित नहीं होगा। रहस्यवाद के संदर्भ में जो दूसरा दृष्टिकोण है वह धर्म का तात्पर्य कर्तव्यपालन से मानता है न कि किसी आलौकिक सत्ता में विश्वास करने से मानता है।

रहस्यवाद के संदर्भ में उपरोक्त दृष्टिकोणों में से पाश्चात्य रहस्यवादी विचारक प्रथम दृष्टिकोण का समर्थन करते हैं। वे रहस्यवाद को धर्म से ही उद्भूत मानते हैं। ईसाई रहस्यवादी ईसा के उपदेशों और बाइबिल में पूर्णतः श्रद्धा रखते हैं। वे रहस्यानुभूति को ईश्वर के अनुभव से जोड़ते हैं। इसी तरह का दृष्टान्त इस्लाम में

भी मिलता है। किन्तु पूर्वी रहस्यवाद अर्थात भारतीय दर्शन, वेद और उपनिषद रहस्यवाद को धर्म से स्वतन्त्र मानते हैं। पूर्वी रहस्यवाद के संदर्भ में हम यह नहीं कह सकते हैं कि इसकी उत्पत्ति हिन्दू धर्म से हुई। भारतीय संतों के विचार उपनिषद और वेद पर आधारित है। वेद और उपनिषद में रहस्यवाद का अर्थ किसी धार्मिक सत्ता से साक्षात्कार नहीं था वरन् आत्म-साक्षात्कार था अर्थात् अपने को जानो। यहाँ रहस्यवाद का अर्थ अपने भीतर विद्यमान अज्ञानता को दूर करना और ज्ञान के उदय से मोक्ष की प्राप्ति का था। 'ज्ञानदेव मुक्तिः', ज्ञान से ही मुक्ति मिलती है और 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं मिलती।[1] यही मुक्ति भारतीय दर्शनशास्त्र का मुख्य प्रयोजन है। पूर्वी दर्शन के संदर्भ में बौद्धधर्म का दृष्टान्त देना प्रासंगिक होगा। जिसके अनुयायी रहस्यात्मक अनुभव को किसी भी रूप में ईश्वर का अनुभव नहीं मानते। यह अनुभव उन्हें शून्य का अनुभव प्रतीत होता है जिसमें वे निर्वाण की झलक देखते हैं। इससे यही सिद्ध होता है कि ईश्वर की सत्ता में विश्वास न करने वाले भी यह मानते हैं कि रहस्यवाद का अस्तित्व संभव है जिसमें ईश्वर के अनुभव के लिए कोई स्थान नहीं है।

पूर्वी रहस्यवाद में साधक जीता है। यह जीने के लिए है। इसका व्यावहारिक महत्व है। यह जीवन से जुड़ा है। जीवन संबंधी भारतीय विचारधारा की एक प्रतिनिधि

(1) पाण्डेय, संगमलाल : भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण, पृ० सं० 3।

उक्ति है– "संसार में विषयों से उत्पन्न होने वाले जितने भी सुख हैं, उनमें दुःख किसी-न-किसी रूप में छिपा रहता है और इसी दुःख की ज्वाला से तप्त होकर दार्शनिकों ने उसकी निवृत्ति के उपायों की खोज की है। जैनों के अर्हतत्व, बौद्धों के निर्वाण, नैयायिको की आत्यान्तिक दुःख निवृत्ति तथा वेदान्तियों के मोक्ष में दुःख के नाश की कल्पना अन्तर्निहित है। इस प्रकार दुःख का समूल नाश ही भारतीय दर्शन का परम लक्ष्य रहा है। भारतीय दर्शनकारों ने इसी लक्ष्य के साधनभूत अन्यान्य दर्शनों की रचना करके तथा उन्हें मनुष्य की परमार्थ सिद्धि में उपयोगी बताकर मनुष्य को परमपद् प्राप्त कराने का प्रयत्न किया जिसे इस जीवन में परमपद् की प्राप्ति हो गई उसका जीवन सफल है जिसको यह पद नहीं मिला उसका जीवन व्यर्थ गया।[1]

पूर्वी रहस्यवाद अद्वैतवाद है जबकि पाश्चात्य रहस्यवाद द्वैतवाद है। पाश्चात्य रहस्यवाद यह मानता है कि रहस्यानुभूति की अवस्था में साधक का उस परमसत्ता में तादात्म्य नहीं हो जाता वरन् वह उस सत्ता से सम्पर्क स्थापित कर लेता है और उसे इस सम्पर्क के फलस्वरूप परमसत्ता के प्राप्त होने की अनुभूति होती है। साधक स्वयं वह सता नहीं बन जाता क्योंकि उसमें इतनी उत्कृष्टता नहीं है कि वह स्वयं परमसत्ता बन जाये। साधक और परमसत्ता में भेद है। सुप्रसिद्ध रहस्यवादी विचारक एखार्ट कहता है कि 'soul is soul and God is God'। परमतत्व का साक्षात्कार

---

(1) इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति, न चेदवेदीत् महती विनष्टि – केनोपनिषद् ।

ईसाई रहस्यवाद में सिर्फ प्रभु से सम्पर्क स्थापित करने तक ही सीमित है। इसी तरह का दृष्टान्त इस्लामिक रहस्यवाद में प्राप्त होता है। अलजुनैद नामक सूफी सन्त सूफियों के बारे में कहते हैं कि 'the Sufi is he who is dead to himself and alive in God'। अबुल हसन के अनुसार 'a Sufi is a day that needs no sun, a night that needs no moon or star and a non being that needs no being.'[1]।

पाश्चात्य रहस्यवाद जिसके अन्तर्गत ईसाई रहस्यवादी और इस्लाम रहस्यवादी विचारकों की अनुभूति का वर्णन किया गया है। उससे स्पष्ट होता है कि दोनों के मतों में समता है क्योंकि दोनों ही रहस्यानुभूति की स्थिति में उस परमसत्ता के साथ साधक की निकटता का उल्लेख करते हैं। दोनों ही द्वैत स्थिति का समर्थन करते हैं।

पूर्वी रहस्यवाद अद्वैत स्थिति का समर्थन करता है। उसकी मान्यता है कि रहस्यानुभूति की अवस्था में साधक को जब आत्म-साक्षात्कार हो जाता है तो वह कह उठता है 'अहं ब्रह्मास्मि' अर्थात मैं ही ब्रह्म हूँ। साधक का उस परमतत्व के साथ तादात्म्य स्थापित हो जाता है। यहाँ उस परमतत्व के साथ तादात्म्य का तात्पर्य ईश्वर की अनुभूति नहीं है वरन् वह समस्त अज्ञान का दूर होना है जो साधक को बन्धनग्रस्त बनाते हैं। इस अविद्या का नाश हो जाने पर मुक्त हो जाता है और ज्ञान अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करता है। यहाँ पर उपासक और उपास्य के बीच सभी प्रकार के विरोधों

(1) Jami : Na fahat ul uls, p. 337

का अन्त हो जाता है। जिस प्रकार पानी की बूँद समुद्र में गिरकर उसमें विलीन हो जाती है उसी प्रकार रहस्यवादी परमात्मा में विलीन हो जाता है अर्थात् परमात्म रूप हो जाता है। आत्मा और परमात्मा का विरोध ऐसी अवस्था में पूर्णतः समाप्त हो जाता है तब रहस्यवादी चिल्ला उठता है 'अहं ब्रह्मास्मि' अर्थात मैं ब्रह्म हूँ।[1]

पूर्वी दर्शन में इस अद्वैत स्थिति का बहुत ही सुन्दर निरूपण रानडे ने किया है और इसके लिए पाँच सोपानों का उल्लेख उन्होंने किया है। प्रथम सोपान के अन्तर्गत इन्होंने वृहदारण्यक उपनिषद का कथन प्रस्तुत करते हुए कहा है कि यह रहस्यात्मक विधि द्वारा आत्मा के दिव्य तेज का अनुभव है।[2] द्वितीय सोपान में हमारे अन्तस में अपने को 'मैं' कहने वाले पुरुष को यावदनुभूत आत्मा से अभिन्न मानना चाहिये। तृतीय सोपान के अन्तर्गत उपनिषदों में बताया गया है कि हमारी आत्मानुभूत आत्मा ब्रह्म से अभिन्न है।[3] चतुर्थ सोपान में 'त्वम्' भी ब्रह्म से विनिर्गत होने के कारण उससे अभिन्न माना गया है।[4] रानडे ने अब 'अहं और त्वम्' दोनों को ब्रह्म से अभिन्न मानने के पश्चात् पाँचवे सोपान में मन और प्रकृत्ति, आत्मा और अनात्मा सामान्य रूप से ब्रह्म है[5], का उल्लेख किया है। उन्होंने इसे पूर्ण अद्वैत का स्तर बताकर इसकी स्थिति

---

(1) त्रिपाठी, जटाशंकर : भारतीय समकालीन दर्शन में प्रो० रानडे के योगदान का समीक्षात्मक , अध्ययन, पृ० सं० 140 ।

(2) वृहदारण्यकोपनिषद् , 2/3/5 ।

(3) वही, 2/5/19 ।

(4) छान्दोग्य उपनिषद्

(5) वही,

को प्रज्ञागम्य बताया। उनके शब्दों में इसका निर्णय इस पर निर्भर है कि हमारी प्रवृत्ति की नियति इस आध्यात्मिक यात्रा पथ पर केवल प्रकाशवाहक अथवा आत्मज्ञानी होना है।

अब प्रश्न उठता है कि पूर्वी और पाश्चात्य रहस्यवाद में कौन अधिक श्रेष्ठ है? इस संबंध में पाश्चात्य रहस्यवादी विचारक मिलर ने अपनी पुस्तक 'गॉड एण्ड रीजन' में कहा है कि "पाश्चात्य रहस्यवाद पूर्वी रहस्यवाद से अधिक श्रेष्ठ है।" मिलर का यह मत उचित नहीं प्रतीत होता क्योंकि उनके इस दृष्टिकोण का कारण उनका ईसाई धर्म से प्रभावित होना कहा जा सकता है। ईसाईयत से प्रभावित होने के कारण ही वह पूर्वी रहस्यवाद को समझ न सका। पाश्चात्य रहस्यवादियों का पूर्वी रहस्यवाद पर यह आक्षेप है कि पूर्वी रहस्यवादी विचारक अपनी अनुभूति को अभिव्यक्त करने में असमर्थ रहे हैं किन्तु इस आक्षेप को लगाने के पूर्व शायद वे यह भूल जाते है कि वास्तव में रहस्यवाद आत्मा का दर्शन है। यह परमतत्व की मौन आनन्दानुभूति है। उपनिषदों में यह संकेत होता है कि यह आत्मा जो समस्त भूतों में निभृत रूप से सन्निहित है पर सबके लिए प्रत्यक्ष नहीं है, केवल सूक्ष्मदर्शी ऋषि ही अपनी सूक्ष्म बुद्धि की सहायता से उसका साक्षात्कार कर सकते हैं।

पूर्वी दर्शन पर पाश्चात्य रहस्यवादी विचारकों द्वारा जो आक्षेप लगाया है उसके पीछे उनका दार्शनिक दृष्टिकोण था। वे यह भूल जाते हैं कि दर्शनशास्त्र द्वारा निर्देशित तर्कप्रधान एवं बौद्धिक प्रयास की अपेक्षा रहस्यवाद का अनुभूति प्रधान मार्ग अधिक प्रामाणिक है। यद्यपि यह सत्य है कि पूर्वी और पाश्चात्य दोनों ही दर्शनों में रहस्यवाद का प्रतिपादन किया गया है किन्तु पाश्चात्य दर्शन में वह करुणाभाव, दृष्टिकोण की वह व्यापकता तथा मस्तिष्क की वह उन्मुक्तता, हृदय की वह सहिष्णुता तथा धार्मिक अनुभूति की वह सक्रियता नहीं देखने में आती है जो पूर्वी दर्शनों के धार्मिक अनुभवों को अग्रसारित करने वालों में है। अत: इस दृष्टि से पूर्वी दर्शन की देन अनुपम है।

सहायक ग्रन्थ सूची

हिन्दी माध्यम की पुस्तकें

लेखक	पुस्तक का नाम एवं प्रकाशक	वर्ष
भट्टाचार्या, अभयचन्द्र	श्री अरविन्द दर्शन, जगबन्धु प्रकाशन, ज्ञानपुर वाराणसी,	1973
गुप्त, शान्ति स्वरूप	साहित्यिक निबन्ध, सप्तम संस्करण, अशोक प्रकाशन, नई दिल्ली,	1972
कन्नोमलजी, श्रीयुत् लाला	गीता दर्शन, बर्मन प्रेस, अपर चीतपुर रोड, कलकत्ता,	1983
मिश्र, हृदय नारायण	धर्म दर्शन परिचय, नवम् संस्करण, शेखर प्रकाशन, इलाहाबाद,	1995
मसीह, याकूब	पाश्चात्य दर्शन का समीक्षात्मक इतिहास, पंचम संस्करण, नरेन्द्र प्रकाश जैन, मोतीलाल बनारसीदास, बंगलो रोड, नई दिल्ली,	1994
श्री अरविन्द	योग समन्वय (पूर्वार्द्ध), श्री अरविन्द सोसायटी, पांडचेरी,	1969
शर्मा, सी० डी०	पाश्चात्य दर्शन, नवम् संस्करण, नरेन्द्र प्रकाश जैन, मोतीलाल बनारसीदास, बंगलो रोड, नई दिल्ली,	1992

श्रीवास्तव, जगदीश सहाय	ग्रीक एवं मध्ययुगीन दर्शन का वैज्ञानिक इतिहास, किताब महल, सरोजनी नायडू मार्ग, इलाहाबाद,	1994
श्नेडर, हरबर्ट डब्ल्यू	धर्म का स्वरूप आधुनिक अमेरिका में, प्रथम संस्करण, भारतीय भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद,	1964
एस० राधाकृष्णन	सत्य की ओर, राजपाल एण्ड सन्स, नई दिल्ली,	1969
एस० राधाकृष्णन	प्राच्य धर्म और पाश्चात्य विचार, राजपाल एण्ड सन्स, नई दिल्ली,	1970
स्वामी सहजानन्द	गीता हृदय, किताब महल, इलाहाबाद,	1948
शर्मा, लक्ष्मी निधि	धर्मदर्शन, द्वितीय संस्करण, विश्वविद्यालय प्रकाशन, अल्लापुर, इलाहाबाद,	1992
सक्सेना, लक्ष्मी	समकालीन भारतीय दर्शन, तृतीय संस्करण, उ०प्र०, हिन्दी संस्थान, लखनऊ,	2002
त्रिपाठी, जटाशंकर	भारतीय समकालीन दर्शन में प्रो० रानडे के योगदान का समीक्षात्मक अध्ययन, अकाडमी ऑफ कम्परेटिव्ह फिलासफी एण्ड रिलीजन, बेलगाँव (कर्नाटक),	1986
तिलक, बाल गंगाधर	गीता रहस्य, माधवराज प्रेस, पूना,	1969
त्रिपाठी, राममूर्ति	रहस्यवाद, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली,	1966
वासुदेव, गोविन्द मण्डपे	गीता प्रणीत व्यवहार शास्त्र, गोरक्षण, प्रिंटिंग प्रेस, वर्धा रोड, नागपुर,	1954

अंग्रेजी माध्यम की पुस्तकें

लेखक	पुस्तक का नाम एवं ःकाशक	वर्ष
अण्डरहिल, ई.	द मिस्टिक वे, जे०एम० दत्त एण्ड सन्स, लंदन,	1914
ब्राइटमैन	ए फिलॉसफी ऑफ रिलीजन, रोकिंग्टन, लंदन,	1946
भट्टाचार्य, के०सी०	सब्जेक्ट एज ए फ्रीडम, इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ फिलॉसफी, आमलनेर,	1930
भट्टाचार्य, के०सी०	ए स्टडीज ऑफ फिलॉसफी, प्रोग्रेसिव प्रेस, कलकत्ता,	1956
फ्लिन्ट, आर०	एन्टिथिस्टिक थ्योरिज, छठा संस्करण, रोकिंग्टन, लंदन,	1930
जेम्स	प्रिंसिपल ऑफ सायकोलॉजी, लंदन,	1891
कुलकर्णी, बी०आर०	ए क्रिटिकल एण्ड कन्स्ट्रेक्टिव एस्पेक्टस ऑफ रानडेज् फिलॉसफी, एकाडमी ऑफ कम्परेटिव फिलॉसफी एण्ड रिलीजन,	1974
लाल, वी०के०	कन्टेम्परेरी इण्डियन फिलॉसफी, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली,	1973
राधाकृष्णन	एन आइडियलिस्ट व्यूह ऑफ लाइफ, जॉर्ज एलेन एण्ड उनविन, लंदन,	1947
राधाकृष्णन	ईस्टर्न रिलीजन एण्ड वेस्टर्न थॉट, ऑक्सपोर्ट यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली,	1977

रानडे	पार्थ वे टू गॉड इन हिन्दी लिटरेचर, आध्यात्म विद्या मन्दिर, सांगली,	1954
रानडे	द भगवत गीता एज ए फिलॉसफी ऑफ गॉड रिलाइजेशन, नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर,	1959
सरकार, एम०	हिन्दू मिस्टीसिज्म, केगन पॉल, लंदन	1934
श्रीवास्तव, एस०एन० लाल	शंकर एण्ड ब्रैडले, प्रथम संस्करण, सुन्दरलाल जैन, बनारसीदास जवाहरनगर, नई दिल्ली,	1968
वुल्फ, ए	द करस्पाउण्डेन्स ऑफ स्पिनोजा, जार्ज एल्विन एण्ड उनविन, लंदन,	1928